दिल की बात

गुरुदयाल मलिक

साहित्य भवन लिमिटेड

इलाहाबाद

दो शब्द

'दिल की बात' दिल से सुन लीजिए। यही विनती है। दिमाग़ को दलील करने की भला क्या जरूरत?

—गुरुदयाल मलिक

समर्पण

शान्तिनिकेतन के मोहन,

मोहिनी और मुन्ना को—

बहुत प्रेम के साथ।

—गुरुदयाल मलिक

परिचय

श्री गुरुदयाल जी मलिक का जन्म सीमान्त प्रदेश मे हुआ ! शिक्षा-दीक्षा पञ्जाब और सिन्ध मे मिली, और कार्यक्षेत्र समूचा भारत बना। वे सच्चे अर्थों मे सम्पूर्ण भारत के नागरिक है। रौलट ऐक्ट के बाद जिन भारतीयो को प्रथम बार बाहर से पञ्जाब के भीतर प्रवेश करने का सुअवसर मिला था उनमें से प्रथम मलिक जी भी है। दीनबन्धु एण्ड्रू ज़ के साथ उन्हे दुःख और अपमान से सम्पन्न पंजाब को अच्छी तरह देखने का मौका मिला था। वर्तमान युग की तीन महान् विभूतियों महात्मा गान्धी, कविवर रवीन्द्र और श्री सी० एफ़० एण्ड्रू ज़ के अत्यन्त निकटवर्ती होने का सौभाग्य मलिक जी को प्राप्त हुआ था और तीनों के विशिष्ट गुण उनमे वर्तमान है। मलिक जी प्रथम श्रेणी के देशभक्त, प्रथम श्रेणी के लोक सेवक और प्रथम श्रेणी के भगवद्भक्त हैं। भक्ति ने उनमे निरीह और निस्पृह भाव भर दिया है और उन्हे एक अनोखे ढग की फक्कडाना मस्ती भी दी है। दूसरो के दुःख से दुखित और विचलित होने के सिवाय मलिक जी का कोई अपना दुःख नहीं है। वैसे एक बार उन्होंने उन भयकर महामारियों का नाम गिनाया था जिनके आक्रमण उन पर हो चुके है। मुझे ठीक नामावली तो नहीं याद परन्तु साधारणतः महाकाल देवता की सेना के सभी प्रमुख सेनापति उनसे ज़ोर आज़मा चुके है। अर्श, श्वास रोग और रक्तचाप से तो उनका नियमित सामना होता रहता है। परन्तु मलिक जी हैं कि चेहरे पर शिकन नहीं जब रोग का आक्रमण हुआ तो सो लिए और ज़रा आक्रमण की आशंका दूर हुई तो दस जनों की सेवा मे यथापूर्व जुट पडे। शान्तिनिकेतन मे वर्षों तक मुझे मलिक जी को निकट से देखने का मौका मिला है। वहाँ किसका बच्चा बीमार है, किसकी लडकी की शादी रुकी हुई है, किसकी पढाई ख़तरे मे

है, किसके घर का कर्जा चुकाना है, किस पति-पत्नी मे झगड़ा हुआ है—सबकी मीमांसा मलिक जी को करनी पडती थी। आश्रम मे अत्यन्त निचली श्रेणी के कर्मचारियों—यहाँ तक कि मेहतर और सथालों से लेकर उच्चतर श्रेणी के अध्यापकों तक सबके दुःख दर्द मे मलिक जी सदा सहायक रूप मे वर्तमान रहते थे।

मलिक जी कई भाषाओं के ज्ञाता है। अंग्रेजी के तो वे अध्यापक ही है। पजाबी, सिन्धी, गुजराती, उर्दू, हिन्दी और बंगला भाषाओं के वे जानकार हैं और थोड़ा-बहुत सभी साहित्यों मे रस लेते है। हिन्दी मे उन्होंने बहुत से भजन लिखे है जो सन्तों के गेय पदों के समान हैं। वस्तुतः मलिक जी जब भाव-विह्वल होकर गाते हैं तो उनका सर्वोत्तम रूप प्रकट होता है। इन गानों में हृदय की तडप और आत्मा की अद्भुत व्याकुलता रहती है। महात्मा गान्धी उनसे भजन सुनकर बहुत पसन्द करते थे और गुरुदेव इन भजनों के प्रेमी थे। जिस प्रकार मलिक जी पर भारत के अनेक प्रान्तों की संस्कृति का प्रभाव है उसी प्रकार विभिन्न सन्त-साधनाओं का रंग भी उन पर चढा हुआ है। मूलतः वे भक्त हैं परन्तु उन्हे सूफ़ी कहना अधिक संगत जान पडता है। शाह लतीफ़ और कबीर दोनों ने उन्हे रमाया है और रवीन्द्रनाथ के भक्तिपूर्ण संगीत ने तो उनको सम्पूर्ण रूप से भाव-मग्न किया है। इस प्रकार मलिक जी की सारी सेवाओं का रहस्य उनकी भक्ति-भावना में है। उनका सारा अस्तित्व श्रद्धा, विश्वास और प्रेम पर आधारित है।

जैसा कि पहले ही कहा गया है मलिक जी अंग्रेज़ी साहित्य के विद्वान है। प्रेमचन्द की कई श्रेष्ठ कहानियों का अनुवाद उन्होंने अंग्रेज़ी में किया है। उनके हिन्दी निबन्ध भी बहुत ही प्रेरणादायक है। सहज भाषा मे हृदय की सच्ची भावनाओं को वे सचाई से व्यक्त करते है। इनमें मलिक जी का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से उभर आया है। मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि साहित्य-भवन ने इन निबन्धों का प्रकाशन किया है। ये निबन्ध विभिन्न पत्रिकाओं में बिखरे पड़े थे। शान्तिनिकेतन के

भाई मोहनलाल वाजपेयी ने इन्हे नाना स्थानों से संग्रह करके प्रकाशन योग्य बनाया है नही तो मलिक जी ऐसे फक्कड़राम हैं कि जब उमंग आई तो लिखा और जब लिख गया तो काम खतम हुआ। उनके संग्रह करने के पचड़े मे कौन पडे। इसलिए वस्तुतः इस संग्रह के लिए वाजपेयी जी धन्यवाद के पात्र है। मेरा विचार है कि उन्होंने इन निबन्धों का संग्रह करके साहित्य की बहुत अच्छी सेवा की है। मलिक जी का न तो तन अपना है न मन ही। सब कुछ भगवान को अर्पित। ये निबन्ध भी शायद उन्होंने भगवान को ही अर्पित कर दिए थे। अब उम्मीद है कि वाजपेयी जी के प्रयत्नों के फलस्वरूप यह निवेदित निर्माल्य भी सहृदयों की मानस-तृप्ति का साधन बनेगा।

काशी
३०-४-५४

हजारीप्रसाद द्विवेदी

विषय-सूची

जब समाज ने मुझे बाग़ी बना दिया !

वैसे तो हर रोज समाज मे कई ऐसी बातें होती रहती हैं, जिनसे दिल उकता जाता है और समाज को छोड़ जगल मे जाकर रहने को जी करता है। मगर पिछले महीने जब मै दिल्ली गया, तो वहाँ एक ऐसा वाकया हुआ, जिसने मुझे सचमुच बागी बना दिया और मेरे दिल से ये शब्द निकल ही पडे—"अल्लाह, ऐसे समाज को तू तबाह ही कर दे !"

वह वाकया यह था ! एक बहन को, जिसे पश्चिम पजाब के कुछ लोगो ने अपने पति के घर से निकाल कर कही और छुपा दिया था, हाल मे ही दिल्ली वापस लाया गया था। जब उसे अपने पति के घर पहुँचाया गया, तो उसकी सास ने उससे कहा—"निकल जा मेरे घर से। तू तो एक पापिन है।"

ये शब्द सुनकर मेरा तो दिल दहल गया ! और मुझे यीशू मसीह के वे शब्द याद पडे, जो उन्होने मेरी मागडलीन की तरफ इशारा करके वहाँ एकत्रित लोगो को कहे थे—"जो भी तुम मे से पाप-रहित है, वह इस स्त्री पर पहला पत्थर फेंके !" काश, उपर्युक्त बहन की सास ने भी ये शब्द उस वक्त, जब उसने अपनी पीड़ित बहू का अपमान करके उसे घर से निकाल दिया, याद किए होते !

एक बहू से, खास कर के जो पीडित है, जिस समाज मे ऐसा सलूक हो सकता है, वह जीने के लायक नही है, क्योकि सच्चा मानव-धर्म तो वह है, जो सिखलाता है :—

कुफ्र काफिर रा, वा दीन दीन-दार रा,
क़तराए दर्द-ए-दिल अत्तार रा।

अर्थात् नास्तिकों को उनका नास्तिकपन और धर्मवालो को उनका धर्म, मगर अत्तार (सूफ़ी कवि) को तो चाहिए दिल के दर्द का एक क़तरा (बिन्दु)। उसे वही काफी है।

फिर मुझे पैगम्बर महम्मद की जिंदगी का एक किस्सा याद पड़ा। एक दफा उनकी बीबी ने उन्हे एक 'बुरे' आदमी के साथ बातचीत करने पर कुछ बुरा-भला कहा। उस पर पैगम्बर साहब ने जवाब दिया—"मैं तो उसे बुरा आदमी कहता या समझता हूँ, जो किसी और को अपने दिल मे बुरा समझता है और उससे दूर रहता है।"

हमारे समाज की ऐसी बेरहमी ही है, जिसने गाधी जी को, गुरुदेव को बागी बनाया और जिससे हमे भी बागी बनना चाहिए। उसके बिना और कोई भी चारा नजर नही आता।

मैं नई-दिल्ली गया और रोया !

पिछले मार्च मे मै नई-दिल्ली गया, मेरे दिल मे बड़ी उमगे और उम्मीदें थीं, क्यो कि मै अपने आजाद मुल्क की राजधानी देखने जा रहा था। वहाँ मुझे नये हिन्द को एक झलक जरूर मिलेगी, ऐसा मुझे बार बार लगा।

मगर वहाँ पहुँचने पर ही मुझे ऐसा महसूस हुआ कि मै चारो तरफ आग के शोलो से जैसे घिरा हुआ हूँ। गला घुटने लगा, दिल मे दर्द होने लगा।

इसका क्या कारण था ? एक ही, कि नई-दिल्ली मे मुझे नये हिन्द की एक भी झलक नजर न आई। वहाँ के लोग पहले की तरह ही मौज-शौक की दुनिया मे बसते हैं। साहब लोगो की तरह पोशाक पहनते हैं, क्लब घरो मे जाते हैं, रमी (एक किस्म का ताश का खेल और वह भी बतौर जुए के) और रम (शराब) के नशे मे चूर होकर रात को घर लौटते हैं। उनका अहकार जरा भी कम नही हुआ। उनकी बहुएँ और बेटियाँ लिपिस्टिक (ओठों का रग) और नाखूनो पर अब भी रग लगाती हैं। उनके बच्चे अपने माँ बाप को 'ममी' और 'पापा' कहते हैं। और बात-बात मे अंग्रेजी शब्द बोलते हैं। उनकी जिन्दगी से सादगी और सच्ची मोहब्बत, जिसका सबूत सिर्फ हमदर्दी और सेवा मे ही मिल सकता है, हजारो मील दूर है। यह सब देखकर मै रोया, मगर मै जार-जार रोया जब कि मैने सरकारी दफ्तरो मे सीधी-सादी अपनी देशी पोशाक पहनने वाले भाइयो के साथ जो बेपरवाही का सलूक होता है वह देखा। आप अपना कोई भी काम बगैर रिश्वत और रुतबाई के नहीं करा सकते।

सरकारी दफ्तरो मे इस किस्म की लूट और शहर मे दूसरी तरह की लूट चल रही है। टाँगे वाले और टेक्सी (मोटर) वाले सीधे-सादे गरीब

लोगो की चमडी ही उधेड लेते हैं। एक बीमार आदमी जो करौलबाग मे रहता था, उससे मिलने के लिए टैक्सी वालो से पूछा कि वह कनॉट सरकस से जाने का क्या किराया लेंगे। तो कोई २५) रु० से कम पर जाने को तैयार न हुआ। और टाँगे वाले ५) और ७) रु० की बात करने लगे। अगर कोई पूछे कि 'बस' गाडी मे क्यो न सफर किया गया तो उसका जवाब यह है कि पहले तो बस हर जगह दिल्ली मे जाती नहीं और दिल्ली मे एक जगह से दूसरी जगह जाने के लिए कितना फासला काटना पडता है वह तो सबको बखूबी मालूम है ही। और नई दिल्ली के रास्ते! उनसे तो सर चकराने लगता है।

अस्पताल मे भी यही हाल है। इलाज करवाना हो तो जेब कटवानी पड़ती है क्यो कि अस्पताल को वहाँ के काम करने वालो ने एक टकसाल (पैसा बनाने का कारखाना) बना रखा है। अगरचे उसे एक खुदा का घर नही तो खाला का घर तो जरूर ही होना चाहिए।

आजादी के बाद अपने लीडरो से मिलना तो ऐसा मुश्किल हो गया है जैसे जेल मे किसी कैदी से मिलना। पहले वे हमारे प्रेम के कैदी थे अब वे पुलिस के कैदी है। दिन-रात और जहाँ भी वे जाते हैं बस पहरा ही लगा रहता है।

नई-दिल्ली के रहने वालो के बडे-बडे मकान जिनमे सिर्फ तीन या चार आदमी रहते हैं और पुरानी दिल्ली जहाँ एक-एक छोटी अँधेरी कोठरी मे पाँच से दस तक लोग रहते हैं। इन दोनो के बीच का फ़र्क देख कर दिल जल उठता है।

इन सब बातो के कारण मै जितने दिन नई-दिल्ली मे रहा एक भी दिन ऐसा न था जब मै न रोया हूँ। हो सकता है, कि इसकी तह मे गाधी जी की गैर मौजूदगी का दुख भी रहा हो क्योकि पहले एक-दो बार जब भी मै नई-दिल्ली गया तो गाधी जी के दर्शन का मौका मुझे हर एक बार मिला, क्योकि उनका दिल और दरबार तो हमेशा ही खुला रहता था। काश! कि हमारे सरकारी दफ्तरों मे काम करने वाले और बाकी

लोग भी अपना दिल और दरवाजा हमेशा खुला रख सकते ! तब तो हमारा देश एक स्वर्ग बन जाता ! अब तो नई-दिल्ली स्वराजस्थान नही बल्कि स्वार्थस्थान बनी हुई है।

एक जमाना था जब हिन्दुस्तान मे 'दिल्ली अभी दूर है' का नारा सुनने मे आता था। इसके बाद 'दिल्ली चलो' का नारा सुनने मे आया और अब जब दिल्ली पहुँच गए हैं तो उसकी मौजूदा हालत देखकर दिल बार-बार पुकार उठता है 'दिल्ली से दूर चलो'।

बात यह है कि नई-दिल्ली मे अब तक न तो सरकारी रवैया बदला है और न ही लोगो का चाल-चलन। आजादी एक पवित्र चीज है। उसका ख्याल ही अभी तक लोगो को सही तौर पर नही।

दिल्ली में हज़रत ईसा !

हजरत ईसा के 'रिजरक्शन' अर्थात् उनके फिर से जमीन पर आने का दिन था। सुबह का वक्त था। हजरत ईसा के आने की खुशबू फैली हुई थी। अपने अनुयाइयो की लापरवाही की धूल से उपर उठकर हजरत ईसा फिर जमीन पर उतर आए। बसन्त ऋतु की हवा ने उनसे दिल्ली शहर का एक चक्कर लगाने के लिए कहा। सूक्ष्म शरीर धारण करके वे राजधानी की सडको और गलियो मे घूमने लगे। वे सबको और सब चीजो को देखते थे। पर उन्हें उस भीड-भाड मे कोई न देख पाता था। क्योकि सब लोग लड़ाई जीतने के सबसे महत्त्वपूर्ण काम मे लगे हुये थे। इसलिए उनकी नजर 'दी प्रिन्स आफ पीस' (शान्ति के सम्राट) पर जा ही कैसे सकती थी !

जानबूझ कर वे पहले 'नई दिल्ली' गए, क्योकि 'नई दिल्ली' नाम से उन्हे यह खयाल हुआ कि वहाँ के रहने वालो का कारबार, उनकी ख्वाहिशो और उनके आदर्शो मे एक नयापन होगा। किन्तु अंग्रेजी मुहावरा है कि लड़ाई मे आदमियो और चूहो सब की कीमत बदल जाती है। हजरत ईसा सैक्रेटेरियट की चहारदीवारी के अन्दर के 'पाक' मैदान में घुसे ही थे कि वहाँ के काम करने वालो की पोशाक के रंग को देखकर वह हक्के-बक्के से रह गए। उनमे से ज्यादहतर खाकी पहने थे ! कुदरती तौर पर हजरत ईसा ने यह नतीजा निकाला कि इनसानी कौम ने अभी तक लडने को ही अपनी मिली-जुली समाजी जिन्दगी का खास असूल बना रखा है। उसने अभी इसे छोडा नहीं है। हजरत ने बडी गहरी दर्दभरी आवाज से कहा—"क्या मै सचमुच फिर से ज़मीन पर आ गया हूँ ? मेरे उन शब्दो का कि 'मै दुनियाँ मे शान्ति नहीं लाया बल्कि एक तलवार लाया हूँ' यह कैसा अफ़सोसनाक अर्थ लगाना और उनका

कैसा दुरुपयोग करना है ! मैंने तो उस तलवार का जिक्र किया था जो स्वार्थ और खुदगरजी की गिरहो को काट डालेगी और लोगों की रात-दिन की जिन्दगी को आत्मत्याग और आत्मबलिदान की रचनात्मक भावना के रग मे रँग देगी।" यह कहकर हजरत ईसा ने अपना दाहिना हाथ उठा कर अपने मुँह पर रखा। मै समझता हूँ उन्होंने अपने उन आँसुओ को पोंछने की कोशिश की जो—इस खयाल के सामने आते हैं कि मेरा जमीन पर आना मालूम होता है व्यर्थ गया—उनकी आँखो के अन्दर न रुक सके !

इसके बाद वह राजधानी के आसपास की गरीबों की बस्तियों मे गए। वहाँ भी उन्हे वही गन्दगी और भूख दिखाई दी। वह नीची छत के एक टूटे-फूटे झोपडे के सामने रुक गए। दरवाजे पर एक बुढ़िया चीथड़े लपेटे बैठी थी। उसके गाल पिचक गए थे और आँखें अन्दर को गड गई थी। हजरत ईसा देखकर चिल्ला पडे—"हाय ! मेरे बच्चे अभी तक भूखे और आधे नगे फिरते हैं ! कितने दिन हुए जब मैंने यह कहा था कि 'भूखो को रोटी देना और नगो को कपडा देना ही मुझे रोटी देना और मुझे कपडे पहनाना है।' मालूम होता है कि लोगो ने मेरे कहने की बिलकुल परवाह नहीं की। इसके कही ज्यादह अच्छा हो कि ये ऊँचे-ऊँचे गिरजे गिराकर जमीन के बराबर कर दिये जावे और श्रद्धालु लोग हर सप्ताह या हर रोज खुली पहाड़ी पर जाकर या नदी के किनारे खड़े होकर मेरे पिता परमात्मा की पूजा कर लिया करें, बजाय इसके कि उस रईस के बिगडे हुए बेटे की तरह जिसका इजील मे जिक्र आता है, धन को इस तरह फजूल खर्ची मे बरबाद किया जावे और मुहताजो और गिरे हुओ को पेट भर खाना भी न मिले।" यह कहकर हजरत ईसा ने एक ठंडी साँस भरी जो वसन्त की हवा में गूँज गई।

इन बस्तियो से निकलकर हजरत ईसा व्यापार के गजे हुए छत्तो और कटरो मे पहुँचे। वहाँ बेशुमार बैकों के अन्दर चाँदी के ढेर लगे हुए थे और चाँदी का लेन-देन हो रहा था। हजरत ईसा ने हैरान और दुखी

होकर अपनी आँखें मली और फिर देखकर कहा—"खुशहाली का जो आदर्श मैंने इन लोगो के सामने रखा था उसका यह कितना गलत मतलब निकाला गया है। मैंने इनसे कहा था कि अपने लिए इस तरह का खजाना स्वर्ग मे जमा करो जिसे न जग लग सके और न चोर चुरा सके। पर इन लोगो ने क्या कर डाला। इन्होंने मेरे कहने का उलटा किया।"

इसके बाद हजरत ईसा तेजी से लौट पडे। चेहरे से मालूम होता था कि वह अभी तक किसी धोखे मे थे। अब वह उनका धोखा दूर हो गया। निराशा और दुख के कोहरे ने थोडी देर के लिए उनके चेहरे के चारो ओर की ज्योति को फीका कर दिया, उनके पैरो के कोमल तलुवे झुलसती हुई जमीन को न सह सके। पल भर के अन्दर वह हवा में उठते नजर आए। जब वह ऊपर की तरफ उडे चले जा रहे थे एक 'स्पिट फायर' जगी हवाई जहाज उनके रास्ते मे पड़ गया। वे उसे देखकर चिल्ला पडे—"उस 'डव आफ पीस' का, 'शान्ति की उस फाख्ता' का जिसे ईश्वर ने अन्धकार मे डूबी हुई मनुष्य जाति के लिए एक बरकत और बरदान के तौर पर भेजा था यह कैसा उलटा रूप है!"

हजरत ईसा तुरन्त नजर से गुम हो गए। दिल्ली के रास्तो के उन पत्थरो से, जो लोभ और ऊपरी चमक-दमक के सुनहरे रग मे रँगे हुए हैं, आवाज निकली—"अभी तक ज़मीन पर कोई जगह ऐसी नही हैं जहाँ आदमी का बेटा अपना सर टेक सके।"

मालूम होता है हजरत ईसा अभी कब्र ही मे हैं, अभी उन्होने फिर से जन्म नहीं लिया।

पृथ्वी जिसकी पादुका

पहाड़ की चोटी पर एक युवक सवेरे से ध्यान मे बैठा था, उसके चेहरे से ऐसा मालूम होता था कि वह आकाशवाणी सुनने की प्रतीक्षा कर रहा है, क्योंकि उसकी पेशानी पर एक अलौकिक रोशनी दिखाई दे रही थी, वह घटो तक आत्मा के मौन और आनन्द मे मग्न रहा।

आखिर उसने अपनी आँखें खोली। उसकी निगाह सबसे पहले एक काश्तकार पर पडी जो उस वक्त नीचे एक छोटे से खेत मे हल चला रहा था। वह हल चलाता जाता था और किसी अदृश्य आनन्द मे विभोर हो कर गीत ललकार रहा था। उसके अङ्ग पर सिर्फ एक लङ्गोटी थी। मगर वह लङ्गोटी क्या थी, वह सच्ची जानतोड मेहनत को एक सुन्दर प्रतीक थी जिससे दुनिया के शहशाह को भी ईर्ष्या होती है, क्योंकि काश्तकार की लगोटी तो तंदुरुस्ती की एक तावीज है, और बादशाह तो आराम के इतने सामान मुहैया होने पर भी बेआरामी मे रहता है।

जब दुपहर हुई तब काश्तकार ने हल चलाना कुछ वक्त के लिये बन्द कर दिया और एक दरखत की छाया मे विश्राम करने के लिये लेट गया। फिर उठकर उसने भोजन किया। भोजन तो सादासूदा था मगर क्योकि उसे उसकी स्त्री ने अपने प्रेम भरे हृदय और हाथो से बनाया था, उसका अमृत जैसा स्वाद था।

भोजन पूरा करने पर काश्तकार ने अपना हल एक बार फिर चलाना शुरू किया और उसकी खादीपोश स्त्री अपने घर वापस चली गई।

जब शाम आई तब काश्तकार ने अपना दिन का काम खतम किया और आनन्द से उडते हुए पावो से वह घर की तरफ हो लिया। मालूम नहीं क्यो वह अभी कुछ दूर ही गया था कि उसने ऊँची आवाज मे एक गीत, जो उसे बहुत ही प्यारा था, गाना शुरू किया, गीत के शब्द यह थे—

नमुं उस ब्रह्म को जो सब से महान ॥
पृथ्वी जिसकी पादुका,
अंतरिक्ष शरीर ।
सूरज चाँद आँखे
और सिर आसमान ॥
ज्योति जिसकी बानी
दिशा जिस के कान ।
पवन जिस का प्राण,
जो सब मे समान ॥

जब युवक ने—जो अब तक पहाड़ की चोटी पर ही बैठा हुआ था—यह गीत सुना तो उसका दिल फौरन पुकार उठा, "यही तो है आकाशवाणी जिसकी मै आज तक इन्तजार कर रहा था। मुझे आज मेरा जीवन-मन्त्र मिल गया। मै तो ब्रह्म की पादुका की ही सेवा करूँगा। जैसे भरत ने रामचद्र जी की पादुका की सेवा की थी। कल से मै भी हल चलाना शुरू कर दूँगा, क्योकि उस काश्तकार को देख कर मुझे आज पूरा विश्वास हो गया है कि हल चलाने मे ही—सूफी भक्त जिसे हाल कहते हैं, अर्थात् हस्ती की मस्ती, उसका अनुभव हो सकता है।"

फिर वह पहाड़ की चोटी से नीचे उतर आया, जब वह पृथ्वी पर पहुँचा तो उसने अपना सिर बड़ी नम्रता से उसके सामने झुकाया और कहा, "धन्य है तू पृथ्वी, तू है प्रभु की पादुका, आशीर्वाद दे कि मै तेरी सेवा मे दिन-रात लगा रहूँ।"

अपने दिल से एक-दो बातें

शाम का वक्त था, मै समुन्दर के किनारे गोशए खामोशी मे इस तरह से खुश और सही सलामत बैठा था जैसे कि एक नन्हा-सा बच्चा अपनी माँ की गोद मे बैठा हुआ होता है और मुझे ऐसा मालूम हो रहा था कि मै बादशाहो के बादशाह का खूबसूरत गैबी महल उस गोशे से देख रहा था।

यकायक किसी ने मेरे अन्दर से मुझ से पूछा—

"क्यो मियाँ, आराम का मतलब तुम्हे मालूम है?"

यह सवाल सुनकर मै जरा हँस पडा क्यो कि मैने अपने आप से कहा कि "यह भी भला कोई पूछने का सवाल है? आराम का मतलब आराम और क्या?"

जो मेरे अन्दर बैठा हुआ था, उसने ऐसा मालूम होता है मेरी यह छिपी हुई बात भी सुन ली और क्यो न सुनता, क्यो कि उसकी आँखे और उसके कान तो बन्द होते ही नहीं।

फिर मेरे कानो पर किसी के गाने की आवाज आ पहुँची मैंने गाने वाले को तो न देखा मगर उसके गीत की एक सतर जो वह बार-बार गा रहा था, मैंने अच्छी तरह से और साफ तौर पर सुनी।

"यह प्रीति की रीति नही तेरी, वह जागत है तू सोवत है।"

तब मेरे दिल मे एक सवाल उठा—"क्या प्रेम करना हमेशा ही जगे रहना है?"

मेरे दिल के जनाने मे जो परदानशीन है उसने जवाब दिया—"हाँ", फिर जरा रुक कर उसने कहा—"अरे मियाँ, मैने तो तुम्हारे सवाल का जवाब दे दिया तुम भी तो मेरे सवाल का जवाब दो।"

"तुम्हारा कोई सवाल है! और फिर जनाब उसका जवाब माँगते हैं?"

"अरे मियाँ, गुस्सा मत हो, अगर तुम्हे जवाब नहीं मालूम तो साफ-साफ कह दो कि जवाब नही जानते !"

"तो ऐसा ही सही, मै तुम्हारे सवाल का जवाब नहीं जानता, क्या अब तुम्हारी तसल्ली हुई ?"

"हाँ, तो मै तुम्हे जवाब बताता हूँ। 'आराम लफ्ज दो लफ्जो से बना हुआ है—'आ' और 'राम'। उसका मतलब हुआ सच्चा आराम "आ-राम" "आ-राम" कहने मे है और करने मे।"

मै यह मतलब "आराम" का सुनकर कुछ हैरान सा हो गया इसलिये मैने पूछा, "मुझे तो मेरे मकतब मे ऐसा मतलब कभी नही बताया गया था—अच्छा जो हो, सो हो 'आ-राम' 'आ-राम' मैं कह तो लिया करूँगा लेकिन तुम्हे यह मुझे समझाना होगा कि मै ऐसा कर कैसे सकूँगा क्यों कि तुमने तो 'आ-राम' 'आ-राम' करने को भी तो कहा है ?'

"हाँ, मैने कहा है और उसका मतलब यह है कि जो कुछ भी काम तुम करो उसे ऐसे तौर से करो कि वह राम के लायक है और तुम उस काम को राम के लायक एक घर समझ कर दिल से उसे कह सको 'आ-राम' 'आ-राम' समझे ?"

"मैने समझ तो लिया मगर उस पर अमल करना मुझे तो बहुत मुश्किल मालूम होता है।"

"तो उसका भी तुम्हे एक आसान रास्ता बता दूँ मियाँ, अगर चाहो तो !"

"जरूर, जरूर" मैने जवाब दिया।

उसने कहा, "दिल को छोड़ो और दिल को पकड़ो।"

"मैने अर्ज की, जरा इसे आसान कर दीजिये !"

"खुशी से जिन्दगी तो एक बाजी है न, कबीर साहब का वह भजन तुम्हें याद है जिसमें वह कहते हैं कि जिन्दगी एक चौपड़ की बाज़ी है, मगर यह खेल अजीब है, अगर तुम हारते हो तो भी प्रीतम के हो जाते हो और अगर जीतते हो तो प्रीतम तुम्हारा हो जाता है, हर हालत में

तुम्हे प्रीतम तो मिल ही जाता है।" इसी तरह से मै तुम्हें कहता हूँ मियाँ, "पार्टीबाजी छोडो, प्रेमबाजी खेलो।"

इतने में मुझे कुछ शोरोशर सुनाई दिया, जहाँ मै बैठा हुआ था वहीं से जरा दूर लोगों का एक हुजूम दिखाई दिया था। कई लोगो के हाथो मे किस्म-किस्म के झडे थे और जोर जोर से नारे लगा रहे थे "—जिन्दाबाद" "—जिन्दाबाद" "—जिन्दाबाद" मै अपने गोशए ख़ामोशी से निकल कर घर वापिस आया और बार-बार मुझे यह खयाल आता रहा, "दिल की बात रुपए मे सोलह आना सच है।"

मैं तो यहाँ सिर्फ़ एक मेहमान हूँ !

कुछ दिन हुए कि बम्बई मे समुन्दर के किनारे जोहू के पास जिस आलीशान मकान मे एक दोस्त के यहाँ मै रहता हूँ वहाँ एक दोस्त अपनी मोटर मे मुझे मिलने आये। अपनी मोटर से उतरते ही उन्होने मकान की तरफ एक नजर करके कहा—"आप का यह मकान तो बडा आलीशान है।

मैने बडी नम्रता से हाथ जोड़कर जवाब दिया—"मगर मै तो यहाँ सिर्फ एक मेहमान हूँ।"

फिर थोडी देर के बाद कुछ बात चीत करके वह तो अपने घर चले गये। मगर मेरे कानो मे "मै तो यहाँ सिर्फ एक मेहमान हूँ।" यह शब्द बहुत देर तक गूँजते रहे।

एकाएक मुझे ईशोपनिषद का पहला मन्त्र—जो गाधी जी और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर दोनो का बहुत प्यारा ध्यान-मन्त्र था—याद आया। जिसमे ऋषि कहते हैं कि यह सारा जगत् प्रभु से ढका हुआ है इस लिये इन्सान को चाहिये कि वह जो कुछ भी पाये उसका भोग वह त्याग भाव से करो। आसान शब्दों मे इसका मतलब इतना ही होता है कि वह किसी भी चीज़ का मालिक नहीं है बल्कि सिर्फ "ट्रस्टी" यानी उसकी सँभाल करने वाला है या यो कहिये कि यह दुनिया एक सराय है जिसमे इन्सान सिर्फ कुछ दिनो के लिये एक मेहमान है अगरचे इस सराय मे वह बार-बार आता है।

अगर रोज़ाना जिन्दगी मे हम सब ऐसा समझकर चलें तो जो हमारा सब से बडा दुश्मन है—यानी लोभ—उससे हम बच कर रह सकते हैं। इस दुश्मन ने क्या ऊधम मचा रक्खा है यह बात सब अच्छी तरह जानते हैं। पचीस बरस मे दो बड़ी लड़ाइयाँ इसके कारण ही हुई

हैं। हमारे देश का बँटवारा भी इसी के कारण हुआ है। बहुत से घरो मे फूट-फाट भी यही लोभ महाशय करवाते हैं। यही तो एक बडा कारण है कि जहाँ देखिये अशान्ति ही अशान्ति नजर आती है।

कोई कहेगा यह सब कहना आसान है पर उस पर अमल करना आसान नही। यह बात ठीक है मगर उस पर अमल करने के तरीके को ही तो धर्म कहते हैं और इसी लिये तो इन्सान धर्म के बिना नही जी सकता। जैसा कि गाधी जी बार-बार कहा करते थे—"मै खूराक और पानी के बिना जी सकता हूँ लेकिन प्रार्थना के बिना एक पल भी नही जी सकता।"

यह सच है क्योकि प्रार्थना आत्मा की खूराक है। प्रार्थना कोई योग्य की करामत नही है, बल्कि जीवन की एक कीमिया है।

मगर प्रार्थना का मतलब क्या है? प्रभु को याद करना और सब कुछ इस ससार मे उसका है, इसको हमेशा याद रखना ताकि कभी भी अगर हो सके तो लोभ की वृत्ति प्रबल न हो उठे और वह उधम मचाना शुरू न कर दे।

और यही बात ईशोपनिषद का पहला मन्त्र हमे सिखलाता है :—

सब कुछ तेरा तू है मेरा
मैं नाहीं और, कुछ नाहि मेरा

विश्वास

विश्वास की व्याख्या क्या है ? धर्मशास्त्रो की दृष्टि से नहीं, मगर 'मियाँ मिट्ठू' की नजरो मे ?

सच्चा ज्ञान हासिल करने के कई तरीके है, मगर दो मुख्य हैं—एक है विचार का और दूसरा है व्यंग्य का। परन्तु, व्यग्य के रास्ते पर चलना पण्डित लोग अक्सर पसद नहीं करते। उनकी राय मे ज्ञानी होना या तो अभिमानी, नही तो आसमानी होना है। वे भूल जाते हैं कि उपयोगी और असली ज्ञान तो उसके पास ही हो सकता है, जो पहले बनता है इनसान।

इनसान का अर्थ है उस करना, औरो से प्रेम करना, औरो के साथ रिश्ता रखना। अगर ज्ञान ऐसा प्रेम-युक्त बधन नहीं सिखाता है, तो वह व्यर्थ है। इसीलिए ही तो सरल स्वभाववाले और सादा-सूदा लोग कहते हैं कि एक पण्डित बनना प्रायः एक पत्थर बनने के समान है। जिस दिल मे दर्द नहीं, वह पण्डित हुआ, तो क्या हुआ !

क्यो ? ज्ञानी अक्सर अहकारी होता है और वह औरां मे विश्वास खो बैठता है, जिसका परिणाम यह होता है कि वह विश्व के साथ प्रेम का नाता जोडने मे असमर्थ होता है।

इसीलिए 'मियाँ मिट्ठू'—अर्थात् साधारण अज्ञानी, मगर जिसे व्यग्य के रास्ते पर सच्चे ज्ञान के दर्शन हुए हैं—पण्डित लोगो को समझाते हैं;

'सुनो ज्ञानी जी महाराज, आपने अपने दिमाग़ के सब दरवाजे तो खुले रखे हैं, मगर दिल के दरवाजे तो अब तक भी बन्द हैं। आप इस तरह कैसे जी सकते हैं ? क्या आपका गला नहीं घुटा जाता ? अगर आपको सही तरह से जीना है, तो दिल के सब दरवाजे खोल दीजिये; क्योंकि तभी तो विश्व के साथ आपका लेन-देन ठीक चल सकेगा। दूसरे शब्दों मे

अगर कहूँ, तो आप विश्वास करना सीखिए। विश्वास का अर्थ आप कुछ भी करते हो, मगर मै तो उसका अर्थ ऐसे करता हूँ— विश्व मे आस रखना है विश्वास। और विश्व मे आस रखना है हर एक व्यक्ति मे ऐसी आस या आशा रखना कि उसमे एक ऐसी सार्वभौमिक या दैविक शक्ति समाई है, जिसे बाहर लाना है, जिसके विकास मे हमे मददगार होना है। हाँ, एक और बात भी याद आ गई। विश्वास का मतलब है विस्तार मे श्वास लेना, केवल अपने मे ही बद्ध रहना मौत है, मगर जो विस्तार है उसमे रहना, श्वास लेना, ही सच्चा जीवन है।'

जब 'मिट्ठू मियाँ' की विश्वास की यह व्याख्या पडित लोग सुनते हैं, वह क्रोध मे कह उठते हैं—'वाह, अन-पढ़ पडित साहब, आपने खूब कही। आप अब एक अविद्यालय खोलिए।'

ज्ञानी और 'मियाँ मिट्ठू' का ऐसा वार्त्तालाप सुनकर प्रभु जो ज्ञान और अज्ञान से परे है, खूब हँसता है। शायद इसलिए कि पडित लोगों का पत्थर-दिल व्यंग्य की आग से भी नही पिघलता!

रोशनी

"रोशनी क्या है ?"

यह सवाल एक सुबह मैंने सूरज से पूछा। जवाब मिला, "अपने आप को देना।"

उसी शाम को ये ही सवाल मैंने एक छोटी मोमबत्ती से पूछा उसने भी मुझे ऐसा ही जवाब दिया।

फिर मैंने उन दोनों से पूछा, "अपने आप को देना, इसका क्या मतलब ?"

जवाब मिला, "हमेशा जलते रहना।"

"कौन सी आग में ?"

"अहंकार की आग में।"

"वह आग तो भस्म कर देती है ?"

"तब ही तो रोशनी का जन्म होता है," सूरज और मोमबत्ती दोनों ने मेरे आखरी सवाल का उत्तर दिया, कुछ वक्त के लिये मैंने जब उनके जवाब पर विचार किया तो मुझे मालूम हुआ कि बात तो बिलकुल ठीक है।

अहंकार आग-समान है। और आग की तरह ही उसके दो गुण हैं, एक गरम करना और दूसरा रोशनी देना। अगर अहंकार की गरमी हम अपने लिये रखें और उसकी रोशनी दूसरों के लिये तो सूरज और मोम-बत्ती की तरह हम भी जहाँ भी हो और जिस किस्म का काम करते हो, औरों को अपनी जीवन-बत्ती की रोशनी दिये बग़ैर रह ही नहीं सकते।

मगर सवाल उठता है, "हम अहंकार की आग में जलें क्यों ?"

तो उसका जवाब हम को रोशनी-मस्त पखाज से मिलता है, "जलने में ही मजा है।"

मगर पखाज की तरह अपने आप की आहुति देना कितने लोग जानते हैं या देना धर्म समझते हैं ? आजकल तो अपनी खातिर औरों को भस्म कर देना, ये ही जीवन का ध्येय मालूम होता है। इसीलिए ही तो जगत् एक भड़कती आग की तरह हमें खाने को आता है और ऐसा

प्रतीत होता है जैसे किसी ने सर्वत्र आग लगा दी हो ।

मगर यह आग तो देवाले (देवालय) की आग है, न कि दिवाली की या कि एक पुण्य-यज्ञ की रोशनी।

अब इस देवाले की आग को दिवाली की रोशनी में बदल देने का तरीका एक ही है और वह जो गाधीजी, बुद्ध भगवान् की तरह हमें एक बार फिर दिखला गये है।' अर्थात्, अपने अहम् की गरमी को अपने आप पर खर्च कर देना और उसकी रोशनी को ही सिर्फ औरो को देना।

मोमबत्ती अपने आपको जला कर अँधेरे म रास्ते पर जाने वालो को रोशनी देती है। सूरज अपने आप को जला कर जगत् को रोशनी देता है। तो क्या मनुष्य—जो सूरज के भी मालिक की सतान है, मोमबत्ती से भी गया गुजरा है?

"नही," मुझे अदर से किसी ने कहा।

'तो फिर?" मैंने पूछा।

अदर से जवाब मिला, "अगर मनुष्य सिर्फ इतना ही समझ ले कि 'रोशनी' का मतलब है 'रोष—न', यानि क्रोध-विक्कार नहो, तो वह धीरे-धीरे मोमबत्ती के मर्म को पहचान लेगा।"

तो क्या औरो पर रोप वा क्रोध करना अपने आपको और दूसरो को रोशनी से वचित करना है? "हाँ," फिर अदर से मुझे किसी ने कहा।

क्योकि ये ही रोष तो सब खराबी करता है। इसी की आग ही तो अतर-देवता की रोशनी पर एक कम्बल-सा डाल देती है। और इसी का उलटा हम देखते हैं जब रोष हम अपने आप पर करते हैं, जब कवि कुछ बिगड़ जाता है, उस की आग अतरदेवता को रोशनी के बाहर आने का एक रास्ता बना देती है।

ऐसी आश्चर्यपूर्ण, यही है जीवन की "होम्योनेथी," रोप ही या अहकार ही मनुष्य को जलाता है और उसे जिलाता भी है।

झाड़ू लो ! झाड़ू लो !!

"मध्यरात्रि के समय कौन झाडू बेचने निकला है ? कोई मूर्ख ही होगा।"—यह कहकर मैंने अपनी आँखें फिर बद कर लीं और सो गया।

मगर कुछ समय के बाद एक बार फिर "झाड़ू! झाड़ू!!" की पुकार मेरे कानो मे पडी। इस दफा तो मुझे जरा क्रोध भी हो आया और मुझ से न रहा गया। इसलिये मैंने अपने कमरे की खिडकी खोली और उसमे से मैंने झाँककर देखा कि कौन "झाडू, झाडू" पुकार कर हम सब लोगो की नीद बिगाड़ रहा है। मैंने इधर देखा, उधर देखा, मगर मुझे कोई भी नज़र न आया। इससे क्रोध का पारा और भी चढ गया।

"तो फिर क्या मैंने सपने मे ही यह पुकार सुनी थी ?" इस तरह से अपने आपको कोस कर मैंने एक बार और निद्रादेवी की शरण ली।

जब कुदरत की घड़ी मे चार बजे अर्थात् जब मुर्गे ने बाँग दी कि "सोनेवालो उठो, अपने परवरदिगार को याद करो।" तब मै उठ खडा हुआ। बाहर की सफाई समाप्त करके मै अदर की सफाई के लिए एकान्त में बैठा। ठीक जिस वक्त मेरी समाधि शुरू होने लगी, उसी समय "झाड़ू! झाड़ू!!" की पुकार मेरे कानों मे गूँजने लगी। उसे सुनकर मेरा मन कुछ खिजा और मैंने अपने आप से कहा, "यह तो हद हो हो गई। ध्यान मे भी शान्ति का भग! यह तो कोई अजीब ही झाड़ू बेचने वाला जगत् मे पैदा हुआ है। काश! कि मेरी आँखें उसे देख सकतीं, ताकि मै उसे दो-चार सुना कर अपने मन को शात तो कर सकता।"

उस वक्त शहर के कारखानो से ऐसे जोर से सीटियाँ बजीं जैसे कि पाताल के भूतो ने मिलकर चीखना शुरू किया हो। थोड़ी ही देर के बाद आकाश धूएँ से ढक गया। मगर धूएँ के बादल का किनारा सूरज की किरणो से सुनहरी हो गया। मै यह अँधेरे मे उजाले की लीला देख ही रहा था कि वह बादल एक महात्मा पुरुष के उज्ज्वल मुख की तरह चमक उठा और मै आनन्द से बोल उठा, "हैं, गाधी जी, आप खुद।"

फिर खुद-ब-खुद मेरा सिर झुक गया—प्रेम-प्रणाम की प्रेरणा से।

खुशबू

एक दिन वर्धा मे काका कालेलकर जी से कुछ दोस्त मिलने गये। जब सब प्रेम पूर्वक "राम-रहीम" नमस्कार कर चुके तो उन्होने उनमे से एक से जो जरा मुहब्बत-मस्त और जिन्दादिल थे हँसते-हँसते पूछा—"मगर यह खुशबू कहाँ से ?"

काका जी के यह शब्द सुनकर पहले तो सब लोग कुछ हैरान हुए। और इसका एक कारण भी था। उस वक्त प्रेम-मडली मे किसी ने भी अपने जिस्म पर या कपडो पर किसी खुशबूदार तेल या इतर का इस्तेमाल नही किया हुआ था। तो फिर यह खुशबू कहाँ से ?

जब बातचीत खत्म हो चुकी और मित्र-मडल घर वापिस लौटा तो रास्ते मे एक मित्र ने जो कुछ मलग तबीयत का था अपने मित्रो को कहा—"मै तुम्हे बताऊँ वह खुशबू कहाँ से आ रही थी ?"

"हाँ हाँ, जरूर !" उन्होने मिलकर जवाब दिया और फिर बडे शौक से मलग साहब क्या फरमायेंगे इसका इन्तजार करने लगे।

फिर मलग साहब ने फरमाया—"खुशबू लफ्ज दो लफ्जो का बना हुआ है—खुश और बू। तो खुशबू का मतलब हुआ उसकी बू जो हमेशा खुश रहता है और हमेशा खुश तो खुदा ही रहता है, उपनिषदों मे क्या एक जगह ऐसा नहीं लिखा हुआ है कि ईश्वर आनन्द है ?"

फिर कुछ देर के लिए वह खामोश रहे। उनके मित्र उनकी तरफ़ अचरज से देखने लगे। मगर उनमे से एक से रहा ही न गया। वह बोल उठा—"खूब कही मलग मियाँ, मगर कुछ और भी तो कहो।"

मलग मियाँ ने अपनी विचार-तरंग जारी रखी। "हर एक मे ईश्वर बसता है और वह आनन्दमय है। मगर ईश्वर का एक और भी तो नाम है, वह है प्रेम। और जहाँ लोग आपस मे प्रेम से मिलते है वहाँ

खुशी की खुशबू खुद-ब-खुद लोगो के दिलो से एक अगरबत्ती की सुगन्ध की तरह ऊपर निकल उठती है।"

मलग साहब फिर खामोश रहे। उनके मित्रो ने—क्योकि अब उनका मकान नजदीक ही आ पहुँचा था—उन्हे नमस्कार की और कहा—"आज तो मलग साहब आपने अपनी पडिताई का जौहर खूब दिखाया।"

जवाब मे मलग साहब जरा हँस दिये और कहने लगे—"भाई, पडिताई से तो मै हजारो कोस दूर रहने की हमेशा कोशिश करता आया हूँ, फिर मेरे मे पडिताई कहाँ? हाँ, इतना जरूर कहूँगा कि मै खुशबूदार बनने की ख्वाहिश बरसो से रखता आया हूँ।"

गांधी जी की लंगोटी

यह २००१ की बात है।

शाम के वक्त एक गरीब गॉव मे एक बूढी मॉ अपनी झोपडी के दरवाजे के पास बैठी थी। चारो तरफ शान्ति का शाल बिछा हुआ था।

बूढी मॉ की आँखें आसमान की तरफ ताक रही थी। ताकते-ताकते कभी उसकी आँखे थकावट से बन्द हो जाती और उस वक्त उसके मुंह से मधुर नाम 'राम! राम!' सुनाई देता।

जब मध्य रात्रि होने आई, तब वह बूढी मॉ अपनी झोपडी मे वापस आई, ऐसा मालूम हुआ, जैसे कि वह सोने जा रही है। मगर कुछ समय के बाद वह फिर बाहर आकर दरवाजे के पास बैठ गई और तारो की चमक और उसकी आँखो की दमक का पवित्र सगम हुआ।

इस सगम के आनन्द की गङ्गा मे वह सुबह तक स्नान करती रही! जब कुदरत की घण्टी 'कुकड़ कू—कुकड़ू कू' बजी, तब उसने अपनी ओढ़ी हुई चादर की तह के नीचे से एक छोटा-सा सफेद खादी का टुकड़ा, जो नाप मे शायद दो हाथ होगा, निकाला। उसे उसने अपनी आँखो से चूमा और फिर आँखे बन्द करके मालूम नहीं किसके ध्यान मे वह मगन हो गई।

जब सूरज की पहली किरणे उसकी झोपडी की छत को और उसके सिर को आशीर्वाद-रूप स्पर्श करने लगी, तब वह अपने ध्यान से उठी, और उसने उस खादी के टुकडे को अपने सिर पर रख कर कहा,—"जय हो तेरी, मेरी लॅगोटी, तू है सादगी और सच्चाई का अवतार!"

यह कह कर बूढी मॉ फिर झोपडी के अन्दर दाखिल हुई। दिन बहुत चढ आया था तो भी वह सोई रही! कौन जानता है कि उस सुषुप्त समाधि मे वह किस विभूति के दर्शन कर रही थी?

गांधी—गुरुदेव

गाधी जी सुनहली जिल्द मे बँधी हुई भगवत्गीता थे तो गुरुदेव उपनिषदों की सचित्र आवृत्ति। एक धर्म का उपासक था तो दूसरा सौन्दर्य का, लेकिन दोनो एक साथ—यद्यपि अलग-अलग क्षेत्र मे—एक ही सत्य के मन्दिर मे उपासना करते थे।

गाधी जी ने सेवा का संगीत चरखे की धुन के साथ गाया, गुरुदेव ने अपना जीवन संगीत की सेवा मे बिताया। एक ने मनुष्य-जाति के दुःखी दिल को दिलासा दिया तो दूसरे ने मनुष्य को आत्मा का आनन्द दिया। पर दोनो एक साथ प्रेम के मोहित वर्त्तुल मे फिरे।

गाधी जी ने नीति के अनन्त मार्गों पर चलते हुए प्रभु का मार्ग पकडा। गुरुदेव ने प्रेम की उपस्थिति मे आनन्द से नृत्य किया और प्रभु के दिल का गुप्त मार्ग खोज निकाला।

एक ने कमल मे जो बिजली का बाण है उस पर ध्यान किया, दूसरे ने बिजली के बाण पर जो कमल है उस पर। लेकिन ये दोनो सत्य के दो बाजू हैं—मृदु और रुद्र, नम्र और शक्तिशाली—इसका ज्ञान प्राप्त किया।

गाधी जी की दृष्टि मे यह जगत् प्रभु का एक कार्यालय था। गुरुदेव की दृष्टि मे यह जगत् भगवान का एक बगीचा था। परन्तु दोनों ने अविरत कार्य मे अपना जीवन बिताया। एक का काम था आनन्दमय करना और दूसरे का काम था आनन्द उत्पन्न करना।

गाधी जी यह मानते थे कि व्यक्तिगत समस्या जगत् की समस्या है। गुरुदेव मानते थे कि जगत् की जो समस्या है वही व्यक्तिगत समस्या है। पर दोनो जानते थे कि जीवन एक सीधी लकीर नहीं, एक वर्त्तुल है।

एक ने यह माना कि जीवन सगमरमर का एक ढेर है। पर दूसरे ने

यह माना कि जीवन प्रेम का अभिसार है। इसलिए गाधी जी ने उस अनगढ़ ढेर मे से मूर्तिकार के समान मूर्ति गढ़ी, दूसरे ने फूल बीने और अपनी प्रिया की वेणी का शृंगार किया। पर दोनो ने जीवन तो स्वीकार किया। एक ने सेवक के रूप मे और दूसरे ने सगीतकार के रूप में। एक ने दासी के रूप मे और दूसरे ने कुमारी के रूप मे।

इस प्रकार गाधी जी और गुरुदेव दोनो प्रभु के दिल के बाग मे उगे—जो दिल, मानव दिल है। उनके जीवन की सुवास अमर रहेगी, जैसे भगवान् अमर हैं।

गांधी जी और गुरुदेव !

एक युग ऐसा था, जब पश्चिम मे तथा बाद को भारत मे भी शिक्षा का उद्देश्य 'तीन आर्स' (रीडिग, राईटिग और रिथमैटिक अर्थात् वाचन. लेखन और गणित कर लेना) मे व्युत्पन्न होना माना जाता था। इसके साथ ही शिक्षकों का यह विश्वास भी था कि मार खाये बिना विद्यार्थी को विद्या नही आती। इसीलिए बहुत समय तक यूरोप मे यह कहावत प्रचलित रही है कि स्त्री, बालक और अखरोट के पेड़ को जितना पीटा जाये, उतना ही अच्छा है—'ए वूमैन, ए चाइल्ड एंड ए वॉलनट, थ्री दी मोर यू बीट दैम, दी बैटर दे बी।'

इन विचारो से जो शिक्षण पद्धतियाँ बनाई गई उनमे प्रभु का स्थान कही भी नही था और हो भी कहाँ से ? क्योंकि प्रभु की दृष्टि से तो सीखने का सबसे उत्तम वातावरण प्रेम का ही हो सकता है।

भारत मे लगभग एक शताब्दी से अधिक समय तक शिक्षित व्यक्ति एक कलमबाबू माना जाता था, जिसका काम दफ्तरो मे केवल कलम घिसना और कागज काले करना था। जहाँ सद्विचार और सद्विवेक की शक्ति होनी चाहिए थी, वहाँ गुलामी विद्यमान थी। परिणामतः एक शिक्षित व्यक्ति उस कलमबाबू पर जो हुक्म चलाता था वह उस पर रबड की मुहर की तरह अंकित हो जाता था। वह कलमबाबू अपना परिचय देते हुए प्रसन्नतापूर्वक कहता था—'आई एम मिस्टर डिट्टो।'

यह करुण स्थिति निहार कर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने शाति-निकेतन की स्थापना की थी—विद्यार्थियो को प्रकृति की गोद मे बिठा कर मानव की सेवा द्वारा भगवान् की सेवा का पाठ वहाँ पढाया जाता था, परन्तु ऐसी वस्तु स्थिति तभी उत्पन्न हो सकती है जब वहाँ के वातावरण को कला और सगीत द्वारा आनन्दमय बना दिया जाय।

दैनिक आचार और शिक्षा-पद्धति मे विद्यार्थियो को इस प्रकार सुरक्षित कर देना चाहिए कि व्यक्ति अपना काम अपने आप करते जाएँ। अपने चरित्र को सयम के आनन्द से घडते चले जाएँ। सक्षेप मे कहना चाहे तो शातिनिकेतन का आदर्श था—'हार्मनि ऑफ दी थ्री एच्स—ऑफ दी हार्ट, ऑफ दी हैड एण्ड आफ दी हैन्ड—अर्थात् हृदय, मस्तिष्क और हाथ का समन्वय। इस आदर्श मे और पश्चिम के आदर्श मे हम सरलता से प्रभेद निहार सकते हैं।

पहले मस्तिष्क के विकास पर ही सारा भार दिया जाता था। हृदय और हाथ के विकास के लिए स्थान ही नहीं था। आज के युग मे भी शिक्षण का उद्देश्य—'थ्री एच्स' (तीन हकार) ही हैं, परन्तु उनका अभिप्राय और है—'हॉस्पीटलिटि टु न्यू आइडिया, हौस्पीटलिटि टु ए स्ट्रैंजर एण्ड हौसपीटलिटि टु योर ओन सैल्फ ह्वैन यू आर एलोन'—अर्थात् शिक्षित व्यक्ति वह है, जो एक नवीन विचार का आतिथ्य कर सके, एक अज्ञात व्यक्ति के साथ अपने सम्बन्ध का बोध प्राप्त करके उसका आतिथ्य कर सके और जब एकाकी हो, कोई विशेष काम न हो तब अपने एकाकीपन का आतिथ्य कर सके।

गुरुदेव तो थे सत्कवि। अतः जब उन्होने शातिनिकेतन विद्यालय की स्थापन की तब वहाँ कला पर विशेष बल दिया, परन्तु बापू जी थे कर्मयोगी, अतः उन्होने कार्य पर बल दिया। इसीलिए जब बुनियादी तालीम की योजना बनायी गयी, तब शिक्षण के केन्द्र मे उद्योग को स्थापित किया गया। उनका विश्वास था कि बालकों को वस्तुएँ बनाने मे बहुत आनन्द आता है।

इस प्रकार गुरुदेव और गाधी जी ने—आनन्द द्वारा विद्यार्थियो को सिखाया जा सकता है—इस तत्त्व को व्यवहार मे स्थापित किया। मूलतः देखा जाए तो 'जौय ऑफ सिगिग सौग एण्ड जौय ऑफ मेकिग थिगस' सगीत का आनद और किसी वस्तु के निर्माण का आनद एक ही है।

बुनियादी तालीम की योजना घड़ते समय प्रतीत होता है गाधी जी

का एक दूसरा उद्देश्य भी था कि विद्यार्थी वस्तुएँ बना कर उनके सबध का ज्ञान प्राप्त करके, उस ज्ञान को अपने वातावरण के साथ मिला कर आत्मबोध ग्रहण करें। गुरुदेव की कामना यह थी कि विद्यार्थी प्राकृतिक सौन्दर्य के सान्निध्य मे रहता हुआ कला-कृतियो द्वारा प्रभु का बोध ग्रहण करे।

ज्ञात होता है कि दोनो ही महापुरुषों का शिक्षा विषयक उद्देश्य यह भी था कि हम जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त करते हैं, उसके द्वारा हम, किसी भी प्रकार से, पूर्णतया मानव-जाति की सेवा कर सकें, क्योकि दोनो ही सत्पुरुषों का यह विश्वास था कि जीवन का आत्म-विकास (सैल्फ फुल-फिलमेंट) मे निहित है, आर्थिक उन्नति (सक्सैस) मे नही।

आज़ादी की आज़ारी

१५ अगस्त, १९४७ की सुबह को मेरे छोटे भतीजे ने कहा—"चाचाजी, आजादी आ गई !"

जिस खुशी के लहज़े मे उसने मुझे देश के स्वतंत्र होने की खबर दी, उससे ऐसा मालूम होता था जैसे कि एक मरुभूमि का रहनेवाला कह रहा हो—"आहा ! आखिर बरसात आई ही !"

लेकिन हमारी आजादी की बारिश ने आते ही हजारो घरो को जमीन मे दफन कर किया। इसलिए ही उसी मेरे छोटे भतीजे ने, अभी तो दो महीने भी आजाद हुए नही गुजरे थे, एक दिन उदास चित्त होकर मुझसे कहा—"चाचाजी, यह तो आजादी नही है, मगर है आजारी !"

बात भी सच है। मगर कसूर किसका, आजादी का या आजादी पानेवालो का ? आजादी का तो नही, क्योकि आजादी तो सूरज की रोशनी की तरह है, जैसा रग जिस वस्तु का—जिस पर वह पड़ती है—उसमे ही उसकी सफेदी बदल जाती है।

इसलिए कसूर आज़ादी पाने वालों का है। हम भूल गए हैं कि आजादी की आत्मा सचमुच मे आत्मा की आजादी है। आजादी, यह ठीक है, स्वभाव से ही स्वतंत्र है। मगर हमने 'स्व' का तंत्र इस तरह से फैला रखा है कि हमारी आत्मा अब तक कैद मे ही रहती है।

अब सवाल यह है कि आत्मा की आजादी का हमारे जीवन मे किस तरह विकास हो ? इसका एक ही तरीका है, जो पूज्य बापू ने हमे बतलाया है, और जिसकी गवाही उनका हर एक पदचिन्ह देता है। अर्थात् आजादी का अगर ठीक फायदा उठाना है, तो आत्मा की आजादी—(जिसका मतलब है परमात्मा का स्पर्श, जो जीवन की सच्ची परशमनी है)—को अनुभव करने की साधना करनी चाहिए, तब ही तो आजादी आशीर्वाद-रूप बनेगी। और आत्मा का अनुभव करना आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना है और 'अहम्' का नाश करना है। क्या हम ऐसी साधना के लिए तैयार हैं ?

समाज ?

कोई अपने कमरे मे अकेला बैठा हुआ गुनगुना रहा था :—

"तू ही सब कुछ जाने प्रीतम,
फिर मै क्यों करूँ कयास ?"

यह शब्द सुनकर मेरे मन मे आया कि अगर यह तू या प्रीतम सब कुछ ही जानता है तो मै उससे ही अपने सवाल का जवाब क्यो न पूछ लूँ ? मेरा सवाल था—"समाज का क्या अर्थ है ?"

मगर यह 'प्रीतम' या 'तू' कौन ? और मै उससे कैसे मिल सकता हूँ ? इन दो प्रश्नो ने मुझे भूल-भुलैया मे डाल दिया।

एक बात तो मै जल्दी ही समझ गया—मेरे मे 'मै' कौन है, उसे तो मै पहचानता हूँ, लेकिन कभी-कभी मैने जीवन मे ऐसा भी देखा है कि जब किसी समस्या पर गूढ विचार कर रहा होता हूँ तो 'तू' की आवाज भी सुन पडती है और उसके कहने मे मुझे हमेशा सत्य की ज्योति की एक झलक दिखाई दी है।

मै समाज के विषय मे गूढ विचार करने लगा, बैठे-बैठे जब मै मन से ज़रा थक गया तो 'तू' को धीमे से अपने दिल के परदे के पीछे से निकलते हुए देखा। मैने उसे प्रणाम किया और फिर बड़ी नम्रता से मैने उससे पूछा—बडे भैया, तुम तो जानते ही हो, इस वक्त किस विषय पर विचार कर रहा हूँ मै ! क्या तुम मेरी मदद नही करोगे ?

"मै तुम्हारी जरूर मदद करूँगा", उसने जवाब दिया और साथ ही कहा, "इसीलिये तो मै इस वक्त तुम्हारे पास आया हूँ।"

"बडी मेहरबानी, बड़े भैया ! तो मेरा सवाल यह है—"मनुष्य-समाज का आदर्श क्या होना चाहिए ?"

बड़े भाई साहब ने फौरन जवाब दिया—"यह भी क्या कोई मुश्किल सवाल है।"

"मेरे लिये तो यह एक मुश्किल सवाल है, मैने प्रत्युतर दिया, भले ही तुम्हारे लिये ऐसा न हो।"

"तो सुनो, बडे भाई साहब बोले, समाज शब्द मे सारा तत्त्व समाया है। इसलिये इस शब्द का अर्थ पहले पूरी तरह से समझ लो।"

"तो आप ही समझा दीजिये", मैने विनती की।

"समाज शब्द का अर्थ है, सम + आज, अर्थात् जिस दिन समाज अपने हरेक सदस्य को कह सकेगा—"तुम सब आज एक समान हो, उस दिन ही से समाज मे प्रीति, नीति, शाति का उद्भव होगा।"

"बडी ही मेहरबानी" तब मैने कहा।

बड़े भाई साहब तो कुछ वक्त के बाद चले गये, मगर मै "समाज = सम + आज' का सूत्र तब से हर रोज़ कई बार जप लेता हूँ।

सेवाग्राम

सुबह का वक्त था। पूर्व मे काली कमलीवाले साधुश्रो की एक कतार, काले बादलो के रूप मे, तारो की ज्योति मे श्रपना रास्ता टटोलती हुई, पश्चिम की तरफ जाती दिखाई दी। उस समय की घोर शान्ति मे इन साधुश्रो के चलने की श्राहट सुनाई दे रही थी।

यकायक तारे गायब हो गये। साधुश्रों ने शोर मचाना शुरू किया—"श्रब हमको रास्ता कौन दिखाएगा ? हम तो इस श्रधकार मे रास्ता ही खो बैठे हैं।"

उसी मुहूर्त दूर से युवको श्रौर युवतियो, बच्चो श्रौर बूढ़ो का एक समूह श्राता दिखलाई दिया। वह राम राम रटते हुए एक झोपडी की दिशा मे जारहा था।

उस झोपडी के पास पहुँच कर सबने श्रपना सिर बड़ी प्रेम-मयी नम्रता से झुकाया। फिर वे सब श्रपने-श्रपने कामो में लग गये। एक ने झाडू लगाना शुरू किया, दूसरा चक्की चलाने लगा, तीसरा खेती करने लगा, चौथा चरखा चलाने लगा, पाँचवाँ तेल का कोल्हू चलाने लगा। हर एक श्रपना काम करता जाता था श्रौर दिल मे राम राम जपता जाता था। उनके मुख पर पसीना, एक महाराजा के गले की माला के मोतियो की तरह चमकता था। उनकी पेशानी स्वतंत्र मानवता की प्रतीक थी, उनके शरीर से सुख की सुगन्ध निकलती थी। इस वक्त तक सूरज निकल श्राया था श्रौर उसने हर एक पसीना बहाने वाले को एक सुनहरी पोशाक पहना दी थी, जिससे ऐसा मालूम होने लगा कि जहाँ वे लोग काम कर रहे थे वह स्थान एक महाराज का शानदार महल बन गया है। जब काम करने वाले थक कर बिलकुल चूर हो गये, वे श्राराम करने के लिए वृक्षो की मातृवत् छाया मे बैठ गये।

उसी वक्त झोपडी से किसी की श्रावाज सुनाई दी—"जहाँ सच्चा कर्म है, वहाँ सत्करतार है। जहाँ राम है, वहाँ सेवा है। मगर सेवा पहले होनी चाहिए, फिर राम मिलेगा; सेवा—श्रग्र—राम—सेवाग्राम!"

शान्तिनिकेतन और सेवाग्राम

आज के भारतवर्ष के समस्त आदर्श, आशा और आकाक्षाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले दो नाम हमे अनायास ही याद आते हैं—शाति-निकेतन और सेवाग्राम। इन दोनो पुण्य-तीर्थों का जन्म पच्छिम से आई हुई उन्नीसवी सदी की तीन प्रधान धाराओ के प्रतिवाद के रूप मे हुआ था : व्यक्तिवाद, व्यवसायवाद और साम्राज्यवाद। देश के शासन और शिक्षा के क्षेत्र मे इन तीनो धाराओ ने जो असर पैदा किये थे, उक्त दोनो संस्थाएँ उनका जीवित प्रत्याख्यान हैं।

शातिनिकेतन का आविर्भाव कवि के मस्तिष्क से हुआ था। जिस दिन पहली बार कविगुरु रवीन्द्रनाथ शाल के समुच्च वृक्षो की छाया मे शिशुओ के खेल के साथी और धरती के लाल सथालो के मंगलाकाक्षी बनकर बैठे, उसी दिन तत्कालीन शिक्षा-क्षेत्र की मानो ज्वलंत आलोचना हो गई। उनकी शिक्षा-पद्धति का मूल मत्र था—सहृति, समन्वय।

दूसरी ओर सेवाग्राम (अथवा उसके पूर्ववर्ती दक्षिण अफ्रीका के फ़ीनिक्स या गुजरात के साबरमती) आश्रम की रचना जिस शिल्पी के हाथो ने की थी वह श्रम को गहरे विश्वास के साथ मानव-जीवन की नींव मानता है और जानता है कि मेहनत और मशक्कत इसान की जिन्दगी के वे तत्त्व हैं, जो उसे गाभीर्य और गरिमा प्रदान करते हैं।

इधर कवि को जीवन-मात्र के अतराल मे रहने वाली एकता से साक्षात्कार था और इसलिए आधुनिकता के साथ सामंजस्य करके उन्होंने तपोवन की सृष्टि की। जहाँ इस मूलभूत एकता के विकास मे बाधा पडी, वहाँ कवि ने स्वाध्याय, स्वार्थ त्याग, सेवा या सगीत की साधना से उसे पूरा किया।

उधर रूपक की भाषा मे गाँधी जी को हम एक व्यावहारिक दार्शनिक

हरवाहा कह सकते हैं। 'एक कदम भी मै बढ़ लूँ तो यही बहुत है'— उनके जीवन का मूल-मंत्र है। उन्होने इसी मंत्र को अपने जीवन के केन्द्र मे दृढता के साथ प्रतिष्ठित करके जीवन के वृत्त को अनत तक खीच दिया है। इससे वे उस जगह तक पहुँच सके हैं जहाँ सबकी पहुँच नही और फिर भी उनकी जीवन-धारा सबके हृदय-कूलो को छू कर हरा-भरा और स्निग्ध करती हुई बहती हे।

एक की प्रेरणा का स्रोत था जोवन की छन्दोमयी रहस्योन्मुखता और दूसरे की प्रेरक शक्ति थी तपस्या से, साधना से अहकार का नाश।

यह तो स्पष्ट ही है कि व्यक्ति हो चाहे समाज, उसके जीवन मे नया खून दौड़ाने के लिए जीवन के प्रति इन दोनो दार्शनिक दृष्टिकोणो की अनिवार्यता सिद्ध है। हमे कल्पना भी चाहिए और कर्म भी, स्वप्न भी चाहिए और सत्य भी। तभी मनुष्य और उसका समाज अपने हर अंग को विकसित कर सकता है।

कवि एक फूल की तरह है, जिसे अगर धूप चाहिए तो छाया और पावस भी चाहिए। इसलिए वह जीवन के हर पहलू को स्वीकार कर लेता है, छोड़ता किसी को भी नही। जीवन की रंगभूमि मे जो नाटक अनुक्षण हो रहा है, वह उसके साक्षी की तरह होता है। वह उसे सूक्ष्म दृष्टि से देखता है, क्योकि वह स्वय भी स्रष्टा है।

दूसरी ओर साधक या तपस्वी जीवन-मन्दिर के सब उपकरणो को धो-माँज कर साफ करता है, जिससे वह चमक उठे। या वह उस योद्धा की तरह है, जिसने संघर्ष की जिन्दगी मोल ली है और जिसे मनुष्य की हर क्षुद्रता से जान-बूझ कर जूझना भाता है।

पच्छिम के ससर्ग से हमारे जीवन मे सदेह या मिथ्या दर्प और जीवन के प्रति एक प्रकार का साधनाहीन मोह पैदा हो गया था। देश मे एक ऐसा समाज बनने लगा था, जिसने अपनी पुरानी सास्कृतिक विरासत को सदेह की दृष्टि से देखा। फलतः देश की जीवन-प्रणाली से उसका तारतम्य टूट । गय । वस्तुपरक सागर-पार की सभ्यता एक नशे की

तरह अपने जादू से देश के युवक-सम्प्रदाय को मुग्ध करने लगी। शांति-निकेतन के गायक और सेवाग्राम के कर्मी ने इसी मनोवृत्ति के खिलाफ बगावत का झंडा ऊँचा किया। उनसे पूर्व भी देश के कुछ क्रांतद्रष्टा मनीषियों ने इस ओर दृष्टि फेरी थी; लेकिन उनके विद्रोह में विद्रोह का स्वर ऐसा प्रबल नहीं था। इन नये विद्रोहियों को सुख की सेज और ऐश्वर्य का भंडार त्यागना पड़ा। कवि को उनके जीवन-देवता ने जो बंसी दी थी, उसे वे अगर चाहते तो आजीवन रईसी की जन्म-सुलभ सुविधा के बीच अबाध बजाते रहते, किन्तु बंसी की जगह उन्होंने कर्त्तव्य-रथ की बागडोर सँभाली। दूसरे ने न्यायालय में अपनी विपुल आमदनी के आश्वासन को दूर ठेलकर बलराम की तरह कंधे पर हल उठाया। दोनों ने महान् के निकट अपने सीमित स्वार्थ को तिरोहित किया। उनकी बात सोच कर भगवान् बुद्ध अथवा प्रभु यीशु की याद आती है। एक बार फिर यह बात प्रमाणित हुई कि त्याग में ही विकास का बीज छिपा होता है और उत्सर्ग ही से सृष्टि पलती और पनपती है।

कवि ने गाया : "तुम्हें पहचान लेने के बाद फिर कोई पराया नहीं रह जाता, किसी का द्वार हमारे लिए रुद्ध नहीं रह पाता। मेरी इस कातर प्रार्थना को स्वीकार करो कि इस अनेकरूपता के सीमाहीन खेल में तुम 'एक' के चरण मेरे हृदय को उज्ज्वल करें।" और उन्होंने अपने काव्य में, गान में, शिक्षा में, दीक्षा में, गांवों के पुनर्गठन और समाज के पुनर्निर्माण में इसी 'अनेक' के मर्मव्यापी 'एक' की लीला को व्यक्त किया।

दूसरी ओर चर्खाधारी हलधर ने भी यही सत्य दुहराया : "वे वहाँ हैं, जहाँ धरती के लाल धरती पर पसीना बहा कर धान का सोना उगा रहे हैं और मजदूर गिट्टी तोड़ रहा है। आतप और मेह में वे उन्हीं के साथ श्रम कर रहे हैं। उनके दुकूल को धरती की धूलि ने मलिन कर दिया है। तब आओ, हम अपनी पवित्र रामनामी को कमर से कसकर क्यों न इसी धूलि-धूसरित धरा पर कर्म के क्षेत्र में उतर आएँ?"

दोनों ने अपना राज-मुकुट उतार दिया और जिस पृथ्वी पर जन्म

लिया था, उसे छोडते समय वहाँ कुछ पुण्य का पराग बिखेर सकें, इसी की माधना की। दोनो ने पुकार कर कहा: "मुक्ति, कहाँ है मुक्ति? हमारे सृष्टिकर्ता स्वयं ही अपनी सृष्टि के बन्धन को सानद स्वीकारे हुए हैं। वे आद्यन्त हमारे साथ हैं, हममे समाए हैं।"

इस प्रकार शातिनिकेतन और सेवाग्राम के तीर्थो ने हमारे भीतर पूर्णतर जीवन की लौ जगाई। जिसे हम भूल से तरक्की कहते है, उसके खोखलेपन को हमारे सामने जाहिर किया। पूर्णतर जीवन का सार है— सहज सरलता। कवि ने कहा: "यही सरलता सुन्दर की पहचान है और परिचय है।"

और यही तो सदा से होता भी आया है। इतिहास के कक्ष मे कवि और पैगम्बर ने अपने को पुरोहित और श्रमजीवी किसान के साथ कंधा मिलाकर खड़ा पाया है। हमारे समय मे पैगम्बर तो अब तक नही जनमे हैं और पुरोहित जी ने अपने पुण्यकर्त्तव्य की अवहेलना की है। किन्तु उनके स्थान पर कवि और किमान के गौरव की छटा देखने का सौभाग्य हमे मिला है। दोनो को हमने सत्य के मन्दिर मे साथ-साथ प्रवेश करते देखा है। आनन्द और तपस्या की उपलब्धि के मार्ग से ही सत्य के मंदिर तक जाना होता है। शायद इसी से एक दिन कवि ने कहा था: "शातिनिकेतन आनंदमय, सत्य का प्रतीक है, साबरमती तपोमय सत्य का।" और कदाचित् सत्य की हम उस पक्षी के साथ भी तुलना कर सकते हैं, जिसके पख युगल होकर भी एक हैं या उस वृक्ष की भी याद कर सकते हैं, जिसकी शाखाओ पर दो स्वर्णिम विहग बैठे थे।

सर्वोदय की भावना

सारे ससार मे सूर्य को सत्य का भास्कर प्रतीक माना जाता है। इसी-लिए सत्य के हर पहलू मे सूर्य की उज्ज्वल दीप्ति और सीमाहीनता, साथ ही निर्विशेप उदारता और व्यापकता का कुछ न कुछ अश होता ही है।

'सर्वोदय' की भावना मे भी सूर्य की यही महिमा अनुरजित है। वह सब के मगल का प्रतीक है। धनी हो या निर्धन, पडित हो या अपढ़, ऊँचे-नीचे, दीन और गरवीले, मालिक और सेवक, स्त्री अथवा पुरुष पापी एव निष्पाप सभी को जिस तरह सूर्य पक्षपातहीन आलोकित करता है, हिमालय के नभ-चुबी शिखरो से लेकर मनुष्य की स्नेहशून्य दीन-हीन झोपडियो तक—उसी प्रकार इसमे सब के कल्याण की कल्पना छिपी है।

इसी प्रकार न्याय मनुष्य का प्राप्य पुरस्कार भी है और एकान्त प्रयोजन भी। जैसा कि किसी ज्ञानी ने कहा है—निष्पक्ष न्याय ससार का नियामक है। यह न्याय दो पहलुओ वाला सत्य है। मनुष्य के प्रति न्याय होना चाहिए और न्याय का कर्त्तव्य मनुष्य पर भी है। प्रायः इसमे से पहले पर तो कुछ ध्यान दिया जाता । बाइबिल के उस साहूकार का खयाल आता है जो दूसरो के कर्ज जोर देकर वसूल करा लेता है, लेकिन कर्ज चुकाने की जिसे कभी फिक्र नही होती थी।

वस्तुतः न्याय के प्रवर्त्तक का अर्थ ही मानव के अन्तर मे निवास करनेवाले भगवान् के प्रति अपना विश्वास व्यक्त करना है। और चूँकि मनुष्य अपने अन्तर की भागवत्-सत्ता को अपने धर्म के द्वारा ही व्यक्त करता , इसलिए जीवन के नियत कर्म के प्रति भी श्रद्धा होनी चाहिए। इसीलिये कवि ने कहा था "सेवा का हर कार्य परम सेवित भगवान् की दृष्टि मे समान है।"

सर्वोदय का आदर्श इसी निष्पक्ष न्याय की भावना पर खडा है।

दीनतम और दरिद्रतम के प्रति भी। व्यवहार मे इसका अर्थ है सहयोग—सहकारिता-समभाव। मनुष्य का मनुष्य के प्रति न्याय-विचार सृष्टि मे धर्म के चक्र का प्रवर्त्तन करता है। यद्यपि मनुष्य इस चक्र की व्यापक गति को सर्वदा नही देख पाता है कि धर्म का यह कल्याण चक्र चल रहा है। फलस्वरूप सर्वोदय की प्रेरणा से चलनेवाला अपने अधिकार के स्थान पर अपने कर्त्तव्य और दायित्व का सदा ध्यान ही रखता है। उसका विश्वास पहाड के समान अचल होता है। वह जानता है कि यदि अपनी जीवन-बाती के दोनो कोरो को वह जलाता है तो इससे एक ऐसे प्रकाश का उदय होगा, जिसे स्वर्ग का आशीर्वाद प्राप्त है। उसका आह्वान उन्हीं सर्व के चरणों मे होता है।

सर्वोदय की यात्रा

सूर्य सत्य का विश्वमान्य प्रतीक है। इसीलिए सत्य के प्रत्येक पार्श्व मे एक किनारे उज्जवलता और निःसीमता का तथा दूसरे किनारे एकत्व और औदार्य का अश विद्यमान होता है।

सर्वोदय भी सूर्य की तरह, गरीब और अमीर, निरक्षर और विद्वान्, ऊँचा और नीचा, स्वामी और सेवक, स्त्री और पुरुष, सन्त और पापी, हिमालय के गगन-चुम्बी शिखरो से लेकर समाज द्वारा दुत्कारे हुए हरिजनो की झोंपड़ी तक, सबके लिए समान है।

इसी प्रकार न्याय पर भी सबका अधिकार होना चाहिए और सबके लिए आवश्यक होना चाहिए। एक विद्वान् उपदेशक ने कहा है—"सत्यनिष्ठ और सम्पूर्ण न्याय दुनिया पर राज्य करता है।"

मानव-जीवन मे न्याय दो प्रकार से प्रचलित होना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को न्याय मिलना चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति को न्यायपूर्वक वर्तना चाहिए। परन्तु प्रायः मनुष्य पहली वस्तु पर ही जोर देता हुआ पाया जाता है। अपने कर्त्तव्य को सूचित करने वाली दूसरी बात की ओर ध्यान नही देता। यह तो बाइबिल मे आने वाली एक बोध-कथा जैसा हो गया।

मालिक ने अपने कर्जदार नौकर से अपना सारा पैसा चुकाने को कहा। अपनी औरत बेचकर, अपने बच्चो को बेचकर, अपने सब सामान को बेचकर पैसा चुकाने की आज्ञा दी। इस प्रकार वह अपने एक हजार सिक्के का ऋण वसूल करने को तैयार होगया। इस पर वह नौकर अपने मालिक के पैरो पर गिर कर विनय करने लगा—"महाराज, धीरज रखो, धीमे-धीमे करके मै आपका पाई-पाई चुका दूँगा!" नौकर की यह दशा देखकर उस मालिक को दया आ गई और उसने उसे छोड़ दिया, उसका सारा कर्ज माफ़ कर दिया।

परन्तु वही नौकर बाहर जाकर एक दूसरे नौकर को पकड बैठा। उस पर उसका सौ सिक्के का ऋण था। नौकर ने उसका गला दबोच कर कहा—"मेरे पैसे चुका दे।" वह नौकर उसके पैरो पर पडकर रोने लगा; परन्तु उस नौकर ने उसकी एक नहीं मानी। ऋण चुक न जाय तब तक उसे कैद मे रखवाने का प्रयत्न करने लगा।

इस दुनिया के मनुष्यो का व्यवहार भी ऐसा ही है।

न्याय को व्यवहार मे लाने का अभिप्राय है मनुष्य मे रहने वाले दिव्य तत्त्व का आदर करना। जिस प्रकार मनुष्य अपनी प्रतिष्ठा द्वारा अपनी आन्तरिक दिव्यता को प्रकट करता है उसी प्रकार उसके दैनिक काम-काज और व्यवहार मे न्यायप्रियता होनी चाहिए। एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य द्वारा जो न्याय मिलता है, उसके द्वारा धर्मचक्र प्रवर्तित होता है। यद्यपि उसके प्रवर्तन को वह निबाह नही सकता। फलितार्थ यह है कि जिस मनुष्य मे सर्वोदय का तत्त्व विद्यमान होता है वह अपने अधिकार के बदले अपने कर्त्तव्यो के प्रति खूब जाग्रत् रहता है। दूसरे को प्रकाश देने के लिए मोमबत्ती की तरह जलकर वह स्वय तो समाप्त हो जाता है, परन्तु नैतिक नियमो का पालन करने मे, दिव्य तत्त्व सदा उसकी सहायता करने के लिए उपस्थित हैं, ऐसी अविचल श्रद्धा ऐसे मनुष्य मे ज्वलन्त-रूप से बसी हुई होती है।

भेंट

"माँ, मै भी आज मेले मे जाऊँगा। जाऊँ न माँ ?" एक बारह बरस के लडके ने सवेरे उठते ही अपनी माँ से कहा।

'कौन-से मेले मे जायगा बेटा ?" माँ ने पूछा।

"कल शाम को जब मै कुएँ पर पानी भरने गया था, उस वक्त लम्बरदार कह रहे थे कि आज शाम को यहाँ से दो कोस पर महात्मा गाधी आने वाले हैं और दो घण्टे रहकर और लोगो को कुछ उपदेश देकर आगे चले जायँगे। मैने सुना तो मेरे दिल मे गाधी जी के दर्शन की बड़ी इच्छा हुई। मै कल शाम तुम से कहना भूल गया। माँ, मुझे मेले मे जाने की इजाजत जरूर दे दो।"

"हा हा, बेटा, खुशी से जाना।" माँ ने बेटे के सिर पर बडे प्यार से अपना हाथ फेरते हुए कहा मगर खुद कुछ सोच-विचार मे पड गई।

"माँ, तुम भी मेरे साथ मेले मे चल सको तो बडा अच्छा हो।" लडके ने अपनी माँ की तरफ बड़ी उमङ्ग से ताकते हुए कहा, "तुम्हे भी गाधीजी के दर्शन हो जावेंगे। तुम मेरे साथ होगी सो मुझे भी बड़ा धीरज रहेगा।"

माँ की आँखे आँसुओ से चमक उठी। जरा रुक कर उसने कहा, "बेटा, बात तो तेरी ठीक है, मगर मेरे पास बाहर जाने के लिये कोई साफ-सुथरी धोती नही है। तू तो जानता है कि जब से तेरे बाप गुजर गये हैं, हमारी हालत कैसी बुरी है। रात-दिन मेहनत करके मुश्किल से हम दोनो का पेट भरता है। इसीलिए कब से यह फटी-पुरानी धोती पहने हूँ। महात्माओ के दर्शन करने के लिए तो साफ-सुथरा होकर जाना चाहिये। अब तू ही बता, मै तेरे साथ कैसे चलूँ, बेटा ?"

बेटा कुछ देर चुप रहा, फिर बोला, "मेरी भी तो धोती फटी हुई है, मगर मै तो यही पहनकर जाऊँगा।"

लडका जल्दी नहा-धोकर तैयार हो गया। माँ ने रास्ते के लिए बाजरे की दो रोटियाँ और कुछ प्याज के टुकडे कपडे मे बाँधकर दे दिये। चलते समय बेटे ने प्रणाम किया और माँ ने उसके सिर पर आशीर्वाद का हाथ रखकर कहा, "बेटा, सँभलकर जाना। रास्ते मे बडी भीड होगी। और देख बेटा, बाजार की कोई चीज न खाना। भूख लगे तो इस पोटली मे से रोटियाँ निकाल कर खा लेना।"

"मै ऐसा ही करूँगा, माँ।" बेटे ने जवाब दिया। दोपहर को लडका मेले मे पहुँचा। लोगो से सारी जगह खचाखच भरी थी और सब महात्मा जी का इन्तजार कर रहे थे। महात्मा जी के बैठने के लिये शामियाने के नीचे एक ऊँचा-सा मञ्च तैयार किया गया था। गाधी जी के आने मे अभी ४ घण्टे की देरी थी। लड़का इतनी भीड़ देखकर पहले तो थोड़ा घबड़ाया, फिर एक वृक्ष के नीचे आराम करने लगा। थका होने के कारण उसे फौरन नीद आ गई।

आँख खुली तो तीन बजनेवाले थे। सुस्ती दूर करने के लिये वह पास की नदी मे स्नान करने गया। अभी वह स्नान कर ही रहा था कि आसमान 'महात्मा-गाधी की जय' के नारो से गूँज उठा। उसने झटपट स्नान पूरा किया और फिर कपडे पहनकर दौड़ता-दौड़ता शामियाने की तरफ चला गया।

थोडी देर मे गाधी जी वहाँ आ पहुँचे। उनके मञ्च पर बैठते ही चारो ओर गहरी शाति छा गई। अपना उपदेश करते वक्त उन्होंने लोगो को चर्खा चलाने, छूत-छात दूर करने, सच बोलने और सेवा-धर्म का पालन करने की सलाह दी। अन्त मे उन्होने कहा, "मेरा धर्म सत्य है और मेरी साधना हमेशा अहिसा का पालन करना है।"

गाधी जी का प्रवचन ज्यो ही पूरा हुआ कि लोगो ने फिर 'महात्मा गाधी की जय' के नारे शुरू किये। गाधी जी तब मञ्च से नीचे उतरे और सबको नमस्कार करके मोटर मे बैठकर चले गये।

लड़के ने बड़ी कोशिश की कि महात्माजी के पास पहुँचकर उनके

पॉवो की धूल से अपना मस्तक पवित्र करे, मगर भीड़ मे वह रास्ता न निकाल सका और न उनके नजदीक ही पहुँच सका। इसलिये वह बड़ा उदास हो गया। आहिस्ता आहिस्ता सब लोग अपने घरों को लौटने लगे, मगर वह अभी तक उसी रास्ते पर, जहाँ से गाधी जी की मोटर गई थी; खड़ा था। वह सोच रहा था कि अपनी माँ के लिये कौन सी भेंट ले जाय।

शाम होने को आई। जिस मैदान मे हजारो की भीड थी, वह बिलकुल खाली पड़ा था। दूर गावो के मन्दिरो मे आरती के घंटे बज रहे थे। लड़के के दिल मे मालूम नही कहाँ से भक्ति का सचार हुआ और उसे ऐसा लगने लगा कि जिस रास्ते से गाधी जी गुजरे थे, वह बडी ही पवित्र भूमि है और उस रास्ते की रज मे जो कीमिया है, वह एक अजीब असर रखती है। इसलिए उसने उस रास्ते से थोडी-सी मिट्टी उठाई और उसे अपनी धोती के छोर मे बॉधकर अपने घर की ओर चल दिया।

घर वापस पहुँचा तो रात के नौ बज चुके थे। उसकी माँ अपनी झोपडी के दरवाजे पर कब से इन्तजार करती हुई खडी थी। बेटे को देखते ही उसकी जान-मे-जान आई और उसने गद्गद् कठ से, "आ गया मेरा बेटा!" कहकर बेटे के सिर पर हाथ फेरा। फिर बोली "मेरे लिए मेले से क्या लाया है?"

बेटे ने अपनी धोती का छोर खोला और कहा, "माँ मै तेरे लिये गाधी जी की चरणरज लाया हूँ।" सुना तो माँ का जी भर आया। उसने बेटे को छाती से लगा लिया। आँखो से पानी झरने लगा। शरीर मे बिजली-सी दौड़ गई। बेटा भी खुशी-खुशी माँ को देखने लगा।

जगत् के महान् आध्यात्मिक पुरुष

शुक्रवार का तीमरा पहर था। मस्जिद मे अपार भीड़ थी। प्रार्थना समाप्त होने पर मौलवी ने एक प्रवचन किया जिसमे उसने कबीर का एक दोहा सुनाया। जनता की आँखे क्रोध से लाल हो गई और पुजारियो ने एक दूसरे से कानाफूसी की, "मौलवो को आज क्या हो गया है? क्या वह पागल हो गया है? उसने एक काफिर के शब्द उद्धृत किये हैं!" प्रवचन जल्दी से जल्दी खत्म कर दिया गया, क्योंकि मौलवी को मालूम था कि कुछ देर से तूफान उमड रहा था। अल्लाह-ओ-अकबर का नारा गुँजा कर वह मस्जिद से बाहर निकला और घर चल दिया। जनता ने पुरोहित के प्रति नित्य की भाँति सम्मान प्रदर्शित नही किया और पुरोहित ने समझ लिया कि धर्मगुरु के रूप मे उसके दिन लद गये।"

रात की रात मे तूफान प्रचड रूप मे फैल गया। जब मुअज्जन का भक्तो को प्रातः-प्रार्थना के लिये बुलाने का समय निकट आया तब एक सदेशहर मौलवी के घर उससे यह कहने आया कि नित्य-नियमो का अनुष्ठान आज कोई और करायेगा और तुम दोपहर को पचायत के सामने हाजिर होना। मौलवी ने सदेशवाहक को यह कहते हुए प्रणाम किया कि "द्वार खोलने के लिये धन्यवाद।"

घटाघर ने बारह बजाये। मस्जिद क्या थी मनुष्यो के चेहरे का विशाल पारावार ही था। पचायत के प्रधान ने मौलवी को बुलाकर उससे कहा, 'जनता को इस बात का जवाब दो कि तुमने पुरानी लकीर से हटकर काफिर का दोहा क्यों उद्धृत किया और वह भो हिन्दी मे जो एक ऐसी भाषा है जिस पर ईश्वर ने निःसंदेह जरा भी कृपादृष्टि नही डाली, नही तो कुरान अरबी मे न लिखा गया होता!'

प्रत्येक की दृष्टि उधर घूम गई जहाँ मौलवो खडा था और प्रत्येक उत्सुकतापूर्वक उसके उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा था। मौलवी ने

भीड को प्रणाम किया और धैर्य एव उत्साहपूर्ण वाणी मे कहा, "ऐ ईश्वर के प्यारो, यदि तुम्हारा ईश्वर केवल अरबी जानता है तो वह सारे ससार का ईश्वर नहीं हो सकता,—कम से कम मेरा तो नहीं ही।' यह कहकर वह वहाँ उपस्थित जनता के सामने एक बार फिर झुका और मस्जिद के बाहर चला आया। भीड मे सन्नाटा छा गया, और जब सन्नाटा भग हुआ तब उन्होने देखा कि अपराधी अपने ऊपर गाली-गलौज की बौछार का मौका दिये बिना ही उड चुका था और इससे उन्हे निराशा हुई।

उस दिन द्वार जैसे एक ही झटके मे खुल गया और उसने उस प्रकाश म प्रवेश किया जो सपूर्ण जगत् को उद्भासित करता है। उसमे ऐसा व्यापक स्नेह और विशालचित्त उदारता थी कि उसने अगले वर्षो में सभी जातियो, धर्मों और देशो के शत-शत प्रशसको को अपनी ओर आकृष्ट किया। उसने कोई भगवे वस्त्र नही धारे; न ही शिष्य तैयार करने का कारखाना खोलकर बैठ गया। वह साधारण वेश मे घूमता-फिरता। बंबई के एक गली-कूचे मे उसकी छोटी सी दूकान थी जहा वह प्रतिदिन कुछ उर्दू की पुस्तके बेचकर अपनी जीविका चलाता। जो कोई एक बार भी उसकी दूकान पर हो आता वह अपने को उसकी ओर इतना अधिक आकृष्ट अनुभव करता कि आगे से वह उसके पास जाने का कोई न कोई बहाना ढूँढ निकालता। अपनी रातें वह एक बडे मकान के एक छोटे से कमरे मे बिलकुल अकेले बिताता। वह मौन बैठा रहता, स्मरण-माला हृदय मे फिरती रहती। एक दिन उसने कहा था कि उसका पुस्तकें बेचने का धंधा भी उन अनेक मालाओ मे से एक था जिन्हे वह प्रतिदिन नही नही, प्रति घण्टा जपता था।

"आप भला जीविका कमाने के इस संसारी झगडे मे क्यों पड गये?" उनके कुछ प्रशसकों ने एक बार उनसे कहा, "हम चाहते है कि आप निर्वाह की चिंता से मुक्त होकर आराम से रहे ताकि आप अपना सारा समय ध्यान-भजन मे लगा सके। इससे हमे अतीव प्रसन्नता होगी।"

"किंतु यह पुस्तक-विक्रय भी एक प्रकार का भजन-पूजन ही है। कर्म पूजा है ; पूजा कर्म है। और फिर, जिज्ञासु को इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिये कि गुलाब के अतर की सुगध रुई के फोहे के भीतर छिपी रहे, ताकि कहीं ऐसा न हो कि वह सूक्ष्म अभिमान मे फॅस जाय।"

"क्या आप पर अपने जीवन मे कभी कोई दुःख आये हैं ? यदि हाँ, तो आपने उनका कैसे प्रतिकार किया और फिर मन की समता एव शाति कैसे प्राप्त की ?"

उसने उत्तर दिया, "अल्लाह का नाम ही बराबर मेरी एकमात्र शरण रहा है।"

"आपका मतलब है कि आप उसका नाम जपते हैं और कठिनाइयाँ लुप्त हो जाती है ? ऐसे नुस्खे से कम से कम हमे तो अपने दुःख-दर्द दूर करने मे कभी लाभ नही हुआ है।"

"जप नही, स्मरण, विरह नहीं, मिलन; दुई नहीं एकता", यह था उसका दो टूक उत्तर।

"हम आपकी बात नही समझे", प्रत्युत्तर मे उन्होंने कहा।

वह क्षणभर चुप रहा। फिर वह बोला, "जब कभी तुम्हे कोई दुःख-शोक हो, तो खुले मैदान में तारो से जगमग आकाश के तले या समुद्र के किनारे या पर्वत पर बैठ जाओ और तुम्हे उनसे सहानुभूति प्राप्त होगी।"

२

उसकी आँखो मे प्रियतम की छवि बसती थी; उसकी आकृति पर्वत-सम प्रतापशालिनी थी, उसका भाल परम प्रभु का पादपीठ था और उसके मुखमडल पर मृगछौने की सी श्रीशोभा विराज रही थी। जब मै उससे मिल गया वह अपने एक सह-साधक के घर मे पूजा के आसन पर बैठा था। मै उसे प्रणाम कर पास मै बैठ गया।

सहसा मूसलाधार वर्षा होने लगी। संत का मौन सरल उद्गारो के निर्झर के रूप मे फूट पड़ा :

"वर्षा हो रही है। यह प्रभु की कृपा की वर्षा है। यहाँ तक कि धूलि का कण-कण उसकी चाह के प्रकाश मे निमज्जित हो रहा है। समुद्र की अतल गहराइयो मे सीप का वास है; आज इसने वर्षा के आगमन का समाचार सुन लिया है। यह समाचार इसे किसने दिया? इसका मुँह पूरा खुला हुआ है। वर्षा की बूद पड़ने की देरी है और यह अनमोल मोती मे बदल जायगी।

परतु इन दिनो प्रेम का करुण क्रंदन करना जानता ही कौन है या उधर कान ही कौन देता है? जिसे देखो विद्योपार्जन के पीछे भाग रहा है। और यह विद्या मनुष्य को प्रियतम के सतत साहचर्य से पृथक् करनेवाले पर्दे के समान है। सुखभोग की चाह-चिता सभी को खाये जा रही है। दुःख के देवालय मे, ईश्वरान्वेषण के मदिर मे देवता की प्रतिष्ठा के लिये भला कौन कभी क्रदन करता है?

अपनी सारी सृष्टि के भोजन-छाजन का भार उसने अपने ऊपर ले रखा है, किंतु एक शर्त्त पर जो हमने स्वीकार की थी। वह यह कि पश्चिम मे सूर्य छिपने के पहले की कुछ घड़ियाँ हम उसी की खोज मे लगायेंगे। दिन तो मेले के हो-हल्ले और तडक-भड़क का मजा लूटने मे बीत गया है और घर लौटकर हम क्या देखते हैं कि अंधेरे ने हमे आ घेरा है। हमे धिक्कार है-हम अपने उर के भीतर तक विश्वासघाती हैं।

पुस्तके भला है ही किस काम को? मनुष्य केवल उन्ही से नही जीता, न ही वह रोटी से जीता है। उसे प्रेम के शिक्षण तथा पोषण की भी जरूरत है। यह सबसे महान् सच्चाई है। यदि ऐसा न होता तो प्रियतम शूली को अपनी शय्या न बनाता, न ही प्रेमी अपनी आत्मा को चलनी-चलनी करके कंकालशेष कर डालता।

हमे हाट-बाजार की चाटे पड़ी हुई है। हम व्यापारी की चालो मे चतुर हैं। हम सदा और-और की याचना करते रहते है। हम ईश्वर

से कल के लिये खान-पान की सामग्री माँगते हैं पर हम बढी हुई अभीप्सा के रूप मे उसका अगाऊ दाम कभी नही देते।

पुरस्कार ही संसारी मनुष्य का परम काम्य है। जागरितावस्था का एक-एक पल वह रुपये-पैसे की माया सीखने मे बिताता है। परंतु प्रेमी के लिये, प्रियतम की सत्यप्रतिज्ञता मे सरल हृदय से विश्वास करना ही सब कुछ है। आवश्यकता है केवल जिज्ञासु के सच्चा होने की।

हम अपने घावो के लिये मरहम लेने पसारी के पास जाते हैं। हम भूल जाते हैं कि परम वैद्य हमारे अदर ही है और जीवन की सब व्याधियो के लिये उसका रामबाण है दुःख।"

उसका प्रवचन समाप्त हुआ। हम उससे बिदा लेने को अपने आसनो से उठ खडे हुए। उसने हमे आशीष दी और हमने अपने-अपने घरो की राह ली। रास्ते भर इस गीत का अंतरा मेरे कानो मे बराबर गूजता रहा।

"क्या हुआ, यदि किसी ने अमरता का रसास्वादन कर लिया। जिसने कभी प्रेम नही किया, वह वास्तव मे कभी जिया ही नहीं। ज्ञान की दृष्टि से मनुष्य सर्वविद्याविशारद भले ही हो जाय पर यदि शिशु की न्याई प्रेम का रस नही चाखा तो उसकी सब विद्या व्यर्थ की माथा-पच्ची रही।"

जैसे ही मैने यह गीत गाया आकाश के तारे मुसकरा दिये। गुलाब और चमेली ने आख मारकर कहा, 'बसी बजाये चल।'

३

"लगभग चौथाई सदी तक, दिन-रात, मैने अपने स्वामी, राजा के लिये गाया-बजाया है और बदले मे उसने मुझे प्रभूत महार्घ-सपत्ति पुरस्कारस्वरूप प्रदान की है और मेरी योग्यता की स्वीकृति की सूचक अनेको मुद्राओ से मुझे समादृत भी किया है। पर शोक! अभी तक मुझे आत्मा की वह हर्षमयता कभी प्राप्त नही हुई जो समस्त सच्चे कर्म

का फल होती है। शायद, वह एक ऐसा अशीर्वाद है। जो, 'कृपा-भाव के समान बलात् आयत्त नहीं हो सकता।' ओह, प्रभु का प्रसाद ?"

एक दरबारी गायक एक सायकाल को इस प्रकार अपने आपसे बातें करता बैठा था। अपने सितार की तारो के मिलान मे उसकी निपुणता और उसकी परिष्कृत ध्वनि दोनो इहलोक के एक से एक बढकर आश्चर्य थे। सगीत की सेवा करते-करते उसके केश पक गये थे। उसकी सुफेद लहलहाती दाढी वितत रजतधवल ज्योत्स्ना के सदृश शोभती थी। उसके सतेज नेत्रो मे उच्चात्युच्च अर्भप्सा थी, जब कि उसके मुखमडल पर विफलता की रेखाएँ प्रतिफलित थी जो सुवर्णवेष्टित कोटिपति या अहमन्य विशेषज्ञ की अतिदम सफलता से कही अधिक भव्य होती है।

साँझ ढलते-ढलते रात हो चली थी, उसकी निराशा ने तीव्र होकर वैराग्य का रूप ले लिया। तब मुअज्जन ने श्रद्धालुओ के प्रार्थना मे आने के लिये अजा दी और मस्जिद के घटो ने शात एकमेव की पूजा गुँजा दी। तथापि वह अभी वहीं बैठा था जहा उसको स्त्री उसे कल रात ध्यान-चितन की अवस्था मे छोडकर गई थी।

उसकी स्त्री उसे चितामग्न-स्थिति मे देखकर चकित रह गई और बोली, "समय हो गया है, तुम दरबार जाने के लिये तैयार हुए थे। आज राजा का जन्मदिन है और तुम जानते ही हो कि तुम्हे उसके सामने अपने सर्वोत्तम वेश मे पूरी सजधज के साथ उपस्थित होना है।"

"मै आज वहाँ नही जा रहा" उसने उत्तर दिया। "मैने अपने स्वर्ण-रजित धंधो से त्यागपत्र देने का निश्चय कर लिया है।"

"क्या ?" उसकी जीवन-सगिनी ने क्रोध और विस्मय-भरी आवाज मे पूछा। "क्या तुम चाहते हो कि मै और मेरे बच्चे भूखो मरे ? क्या मै इस बुढापे मे चिथडे पहरे फिरूँ और भीख माँगू ?"

"जो होना था सो हो गया। जो चिडियो को चुग्गा देता है और जिसने तोते को हरा तथा मोर को रग-बिरगे परोवाला बनाया है वह

तुम्हारा हमारा पेट भी भरेगा। कृपा करके करीमबख्श को बुला दो। मै चाहता हूँ कि वह मेरा त्यागपत्र महाराज के पास ले जाय।"

उसकी स्त्री फूट-फूटकर रोने लगी, आगामी कल का विचार आते ही वह व्याकुल और व्यथित हो उठी। चिता की मूर्च्छा दूर होने पर कुछ प्रकृतिस्थ होकर वह अपने पति की आज्ञा का पालन करने के लिये उनके कमरे से बाहर चली आई।

कुछ ही क्षणो मे करीबमखश अपने स्वामी के सामने हाजिर हो गया।

"करीम, यह पत्र लो और स्वय महाराज साहिब के हाथो मे दे आओ।"

करीमबख्श ने अपने स्वामी के हाथ से पत्र ले लिया और उन्हे सलाम करके तेजी से हुक्म बजाने के लिये चल पड़ा। महल के अदर घुसने मे उसे कोई कठिनाई नही हुई क्योकि वह राजा के नौकर-चाकरो मे उतना ही सुपरिचित था जितना दरबारियो मे उसका स्वामी। महाराजा के कमरे के पास पहुँचकर उसने दरवाजा खटखटाया और घुटने टेककर तथा सिर नवाकर अपनी अमानत सौप दी और घर को राह ली।

महाराज ने चटपट पत्र खोला, और ज्योही उन्होने विषय-वस्तु पर दृष्टि डाली उनके रोंगटे खडे हो गये, त्योरियाँ चढ गईं और होठ प्रचड कोप से आकुंचित हो उठे। त्यागपत्र मे इस प्रकार लिखा था :

"इधर इतने वर्षों तक मैने अपने सगीत से राजा की सेवा की है, पर अब मेरी आत्मा अपने गान से 'राजाओं के राजा' की सेवा करने को आतुर है। अब से दरबार का ठाठ-बाट मेरा रगमच नही होगा, नदी का किनारा ही अब मेरा घर होगा और मेरे 'गिने-चुने' श्रोता होगे-समुद्र की लहरें और वन का मर्मर।"

कुछ देर के लिये तो महाराज मानो जमीन में गड़ गये, तब उनका भरा हुआ गुबार गाली-गलौज की बौछार के रूप मे फूट पडा। उनका पारा चोटी पर चढ गया और वे चिल्लाकर बोले "कृतघ्न कुतिया,

पितृपरंपरा से मैं जो तेरा प्रतिपालन करता आया हूँ उसका तू मुझे यही पुरस्कार देना चाहती है। साप को हिमधवल दूध पिलाकर मैंने कैसी मूर्खता की।"

मध्याह्न का समय था, जन्मदिन का समारोह अपनी पूरी बहार पर था। दरबारी-गायक का अस्तित्व ऐसा भुला दिया गया जैसे कोई बुरा स्वप्न हो, राजाओं और उसके चाटुकारो के, राजकुमारो और उनके पिछलगों के रग-ढग ऐसे ही होते हैं। कल के आदर्श आज युगविरुद्ध रूढियाँ भर रह जाते हैं।

वर्ष पर वर्ष बीत गये। गायक नदी के किनारे एक दीन-हीन कुटिया मे रहता था। उसका कुटुम्ब काल के कराल करो ने उससे छीन लिया था। अब उसका एक मात्र साथी था उसका सितार। इसी से वह प्राची की ऊषा और रात के तारों का स्वागत करता था। उसे लगता कि शब्द प्रभु के साथ मिलन मे बाधा डालेंगे, अतः उसने बजाने के साथ गाया कभी नहीं।

एक दिन जब वह बैठा-बैठा लहरो का खेल देख रहा था उसने गाना शुरू किया :

"केवट, मुझे पार ले चलो।" गीत ने उसे ग्रस लिया, वह गाने की मस्ती मे खो गया। गाना चलता रहा।

"किधर, यात्री, किधर?"

"राजा के महल की ओर, राजा के-राजाओं के राजा के।" और जैसे ही उसने अंतिम कडी गाई उसकी आँखे सुदूर दिव्यालोक से भर उठी, उसका तन-वदन ओज और तेज से व्याप्त हो गया। ससार ने कहा, "वह मर गया है।", पर द्युलोक मे देवो ने विजयगान गाया। "वह जीवित है, वह जीवित है, वह जीवित है।" तब मुझे एक आवाज सुन पडी जैसे ताली बज रही हो। वह आवाज थी विधाता की, जो स्वागत की और विस्मय की हर्षध्वनि कर रहा था।

धन्य रवीन्द्रनाथ

कई बरस हुए गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर कराची गये थे। वहाँ वे एक बहुत बडे धनाढ्य किन्तु साधु प्रकृति सज्जन के मेहमान थे। अपने मेजबान की आलीशान कोठी मे प्रवेश करते ही गुरुदेव ने कहा—"यदि हो सके तो मुझे एक ऐसा कमरा दीजिए, जिसका मुँह पूरब की तरफ हो।"

मेज़बान ने जवाब दिया—"बड़ी खुशी के साथ, पर मुझे डर है वहाँ आपको इतनी अच्छी हवा न मिलेगी।"

इस पर गुरुदेव ने कहा—"इसकी फिक्र न कीजिए। असल मे मुझे सूर्य भगवान से प्रेम है और रोज प्रातःकाल मैं चुपचाप उनकी दयामयी दृष्टि और उनके कोमल स्पर्श की प्रतीक्षा करता हूँ।"

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर हिन्दुस्तान के उन प्राचीन ऋषियो के समान थे, जो रोज प्रातःकाल उस सूर्य की उपासना किया करते थे, जो परमात्मा के अनन्त ज्ञान और उसकी जीवनदायिनी शक्ति का एक प्रज्वलित प्रतीक है, और उससे प्रार्थना करते थे कि वह उनके दिमाग़ो को रोशन करे और उनकी आत्माओ को अपनी अनन्त आत्मा के साथ मिलावे।

इसलिए यह कुदरती बात थी कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसा ज्योति का अतृप्त प्रेमी आजकल के इस भयकर युद्ध और रक्तपात को देखकर ऐसा अनुभव करता कि मानो उसकी आत्मा को सूली पर चढाया जा रहा है। तोपो के धुएँ ने हम सबके परमपिता परमात्मा के तेजपुञ्ज चेहरे को करीब-करीब ढक रखा है। और दुःख इस बात का है कि लडाई के अस्त्रशस्त्रो के तुमुलनाद मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दिल से निकली हुई शान्ति की अपील किसी को सुनाई न दी, यहाँ तक कि 'मनुष्य के साथ मनुष्य की अमानुषिकता' के बोझ, उसके दबाव और उसके डक को न सह सकने के

कारण ही अन्त मे वे तीन वर्ष पूर्व आज के ही दिन, यानी ७ अगस्त को हमारी इस दुनिया से चल बसे, और एक ऐसी दुनिया मे जा पहुँचे, जो हमारी इस धुएँ मे काली हुई हुई पृथ्वी की निस्बत अधिक ज्योतिर्मय है।

कवि उस पगलाई हुई, होशगुम और शैतानी प्रभुता के उपासक नहीं थे, जो मनुष्य को भ्रष्ट करती है। वे उस विनम्र किन्तु शक्तिशाली प्रेम के उपासक थे, जो मनुष्य के हृदय को प्रेरित करता है और मनुष्य को ओज प्रदान करता है। अपनी जिन्दगी भर कवि ने ज्योति का एक ऐसा मन्दिर खडा कर देने की कोशिश की और उसके लिए परिश्रम किया, जहाँ एक ही पाठ पढाया जाता है और एक ही नियम का पालन किया जाता है। वह पाठ या वह नियम यह है कि एक दूसरे को लगन के साथ समझने की कोशिश करो और एक दूसरे से प्रेम करो। उन्होने अपने गीतो और अपने उपदेशो के जरीये दुनिया के लोगो को इस बात के लिए निमन्त्रित किया कि वे अपनी-अपनी प्रेम की अञ्जलि लेकर और जिस सत्य का उन्होने अपने भीतर साक्षात्कार किया है, उसकी अजलि लेकर एक वेदी पर चढावे। किन्तु जब उन्होने यह देखा कि लोग बजाय इन चीजो के परस्पर घृणा, अविश्वास और असत्य लेकर आगे बढे, तो निराशा से कवि का दिल बैठ गया। आन्तरिक वेदना के स्वरो मे कवि ने चिल्लाकर कहा—

"परमात्मा चाहते है कि उनका मन्दिर प्रेम से निर्माण किया जावे, किन्तु लोग प्रेम की जगह पत्थर जमा कर रहे है।"

कितने दुःख की बात है कि आज लोग इस मामले मे अपने पूर्वजो से भी एक कदम आगे बढ गये। वे अब परमपिता का मन्दिर निर्माण करने के लिए पत्थरो की जगह बम के गोले, लकडियो की जगह सगीनें और सीमेण्ट की जगह बारूद जमा कर रहे है।

जिस तरह कवि को पाशविक शक्ति पर अधिक विश्वास नही था, उसी तरह उनके दिल मे धन का भी अधिक मूल्य न था, क्योंकि धन और शक्ति दोनों मनुष्य को मनुष्य से फाड़ने वाली चीजे है। धन मनुष्य

को घमडी बना देता है और इस विश्व मे शान्ति और सामञ्जस्य की गाडी को उलट देता है। जिस आदमी को अपने धन का घमंड होता है, वह दूसरो के साथ बर्ताव करने मे आमतौर पर कुल्हाडी के सिद्धान्त से काम लेता है। वह उस चाबी के उपयोग को नही जानता जिससे मानवता के मन्दिर के दरवाजे का ताला खुल सकता है। इसलिए बेदर्दी और बेढगेपन के साथ बजाय चाबी के वह कुल्हाडी से काम लेने लगता है। कवि ने एक बार एक पुस्तक म हस्ताक्षर करते हुए यह लिखा था—

"प्रभुता अपने बेढगेपन से चाबी को खराब कर देती है और कुल्हाडी से चाबी का काम लेने लगती है।"

यह सब गडबड इसलिए होती है क्योकि हम मनुष्य जीवन के सच्चे आदर्श को नही समझ पाते।

यह सच्चा आदर्श क्या है? यह आदर्श मानव-कल्याण है। कवि के अनुसार इसका मतलब है—"आत्मा का पूर्ण विकास या आत्मा की भरपूरता।" इसके खिलाफ धन को वे 'बडप्पन का भार' कहा करते थे। 'आत्मा की भरपूरता' और उसकी सचाई पर कवि का शान्तिनिकेतन एक चमकती हुई टीका है। शान्तिनिकेतन मे मनुष्य-प्रेम और ईश्वर-प्रेम, सौन्दर्य-प्रेम और सत्य-प्रेम, सादगी और हृदय की शुद्धता, सेवा और निस्वार्थता, ध्यान और कर्म, इन सब मे सामजस्य पैदा करने और इन्हे एक स्वर मे लाने की कोशिश की गई है।

दुनिया को शान्तिनिकेतन जैसे केन्द्रो की बहुत सख्त जरूरत है। शान्तिनिकेतन उस मार्ग की ओर उँगली उठा कर सकेत कर रहा है, जिस पर जल्दी या देर मे मनुष्य-समाज को चलना पड़ेगा। सम्भव है कि इस महायुद्ध के समाप्त होने पर मनुष्य-समाज इस बात को समझ सके। किन्तु जो भी हो, हम लोग शान्तिनिकेतन वाले, सब सदा ईश्वर से इस बात की प्रार्थना करते रहेगे कि हमारे कामो मे और हमारी उपासना मे रवीन्द्रनाथ की आत्मा सदा मौजूद रहे।

धन्य रवीन्द्रनाथ!

रवीन्द्रनाथ और साहित्यिक आदर्श

कुछ समय पूर्व, एक दिन, जब मै रवीन्द्रनाथ की एक पोथी पढ रहा था, तो सहसा मेरे कानो मे एक गीत की भनक पड़ी। मैने अपने कान खडे कर लिये और जरा अधिक सावधान होकर सुनने लगा। मेरा एक पड़ोसी बडे सम्मोहक आनन्द के साथ गा रहा था। गीत के भाव कुछ इस प्रकार थे—'निश्चय ही दुनियावी मनुष्य निरा मूर्ख है। उसके चतुर्दिक, रात और दिन, आनन्द का महासागर लहरा रहा है और वह चिल्ला-चिल्ला कर लोगो से कह रहा ह कि मै प्यासा हूँ! अगर वह इसमे थोडा गहरा गोता मार सके, तो जीवन का आनन्द प्राप्त कर सकता है। पर वह तो ससार की ओर ही देखता है और इसकी टेढी-मेढी भूलभुलैया में भ्रान्त हो जाता है। यदि वह केवल अपने मनश्चक्षु से सब चीजो को देख सकता, तो उसे सर्वत्र आनन्द का सत्य और सत्य का आनन्द ही दिखाई पड़ता।'

कुछ समय बाद गान समाप्त हो गया; पर मेरी जिस विचार-सरणि को वह स्पन्दित कर गया था, उसकी यात्रा मेरी आत्मा की परतो मे होकर जारी रही। थोडी देर बाद वह थम गयी, और मैने अनुभव किया कि उसने रवीन्द्रनाथ के साहित्यिक आदर्श के प्रति मेरे हृदय की आँखे खोल दी हैं। मै सोचने लगा, आखिर समूचे सत्साहित्य का आधार-भूत सिद्धात क्या है? वह है सर्वप्रथम लेखक द्वारा अपनी और बाद मे सब चीजो की आत्मा को पहचानना। पर इसके विपरीत अधिकाश लेखक दूसरा मार्ग ग्रहण करते हैं। वे हमारे चारो ओर के रहस्यपूर्ण जगत् को जानने के लिये बुद्धि का सहारा लेते है। खेद है कि यह उनके लिये एक धुँधले शीशे के टुकडे से अधिक सहायक सिद्ध नही होती, जिसमे उन्हे धुँधला ही दिखाई पडता है। कदाचित् इसीलिये प्राचीनो ने मस्तिष्क की 'यथार्थ को काटने वाला' कह कर परिभाषा की है।

सच तो यह है कि ज्योंही आदमी सजग रूप से अपनी आत्मा से साक्षात्कार करेगा, वह अपनी सारी अभिव्यक्ति को उसी के रङ्ग में रँगा पायेगा, क्योंकि आत्मा मजनूँ की तरह है, जिसने हर जर्रे में लैला को ही पाया है। आत्म-साक्षात हुआ कोई भी व्यक्ति अलादीन के इस चिराग को लेकर वस्तु-जगत् की अँधेरी से अँधेरी गुफा में बैठ सकता है। वहाँ से वह कीमती मोती ही चुनकर लायेगा। अपने-आप में हुआ यह आत्म प्रकाश एक के बाद एक करके जीवन के ही पहलू की आत्मा को प्रकट कर देता है, क्योंकि आत्म-प्रकाश का आनन्द प्रत्येक वस्तु को आत्माभिव्यक्ति के उल्लास से भर देता है। अतः आत्मसंवेदन के क्षण में यह समूचा ब्रह्माण्ड एक हो जाता है—भले ही इसके बाह्य रूपान्तर कितने ही क्यों न रहें।

इसके अतिरिक्त व्यक्ति में स्वच्छन्दता की भावना भर जाती है, जो उसके मस्तिष्क की निश्चित रूपों तथा भ्रान्तियों के परावलबन की शृंखला की कड़ी-कड़ी खोल देती है। इस प्रकार व्यक्ति को जिस आनन्द का अनुभव होता है, वह उसके गुफा में रहने वाले उस आदि-पुरुष के आनन्द-सा ही होता है, जिसकी अपनी गुफा की दीवारों पर छाया की आँख मिचौनी देखने के बाद एक दिन, अपनी छोटी दुनिया से बाहर आने पर, यथार्थ से साक्षात् हुआ था। और कहना न होगा कि यह स्वच्छन्दता की भावना ही 'अपने से इतर किसी शक्ति या व्यक्ति' के प्रति सम्पूर्ण आत्मार्पण की जननी है। 'जीवन-देवता' की भावना इसी का परिणाम है, जिसके प्रति रवीन्द्रनाथ की ममतामयी भक्ति रही है। जैसा कि एमर्सन ने एक जगह कहा है—'लेखक सर्वशक्तिमती आत्मा के प्रति नत होकर ही महान् है।'

पर आत्म-प्रकाश के आनन्द, विश्व की मूलभूत एकता और आत्म की स्वच्छन्दता के साथ-ही-साथ नवीनता की भावना का भी उदय होता है। हर सूर्योदय न केवल सृष्टि के उस प्रथम प्रभात की ही याद दिलाता है 'जब नक्षत्रों ने गाया था'; बल्कि अपने साथ विशुद्ध मौलिकता का

सौरभ भी लाता है। इसीलिए लेखक इसका अछूते सौन्दर्य और प्रेम की सी भावना से स्वागत करता है। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ के गीतो का प्रधान स्वर रहा है—'तुम मेरे पास सदा चिर-नवीन के रूप मे आते हो।'

किन्तु भावो का आत्मा के रूप मे प्रकटीकरण अथवा आत्मा का भावो मे प्रवेश लेखक के हृदय की उस प्रेरणा पर ही अवलम्बित है, जिसका मूलमन्त्र है : 'शान्ति से किसी को पहचाना जा सकता है।' इसके लिये उसे एमर्सन के कथनानुसार 'एकान्त का नववधू की तरह आलिंगन करो' वाली बात को ही चरितार्थ करना होगा। और रवीन्द्रनाथ ने कई वर्षों तक पद्मा के किनारे तथा शान्तिनिकेतन के ग्राम्य वातावरण मे इस नववधू की आराधना की है। अतएव यह कहना अत्युक्ति न होगी कि शान्तिनिकेतन ने रवीन्द्रनाथ की आत्मा की वैसे ही रक्षा की, जैसे कि उन्होने शान्तिनिकेतन की आत्मा की। एक धर्म वाक्य है : 'शान्त होकर देखो और जानो कि मै ईश्वर हूँ।' इसी तरह विश्व का भी कथन है : 'शान्त होकर देखो और जानो कि मै भी ईश्वरीय हूँ।'

पर आज के लेखक तो दौड और यथार्थ मे ही विश्वास करते हैं। वे यह भूल जाते हैं, जैसा कि रवीन्द्रनाथ ने कहा है, कि यथार्थ पशुता है और वे खाज से पीडित अशान्त व्यक्ति की तरह इधर-उधर दौडकर आत्मा के प्रकाश को उसी तरह असम्भव कर देते है, जिस प्रकार कि बिना हवा के वातावरण मे किसी भी चीज का जलकर प्रकाश करना असम्भव है। भले ही उनकी गति सिनेमा की फिल्म की-सी हो, पर वे अपने-आपको हिमालय की-सी ठोस महत्ता और वासन्ती के सुरभिमय प्रवाह से वंचित कर लेते हैं।

संक्षेप मे रवीन्द्रनाथ का साहित्यक आदर्श आत्मा के सत्य और सत्य की आत्मा से उद्भूत था। यही कारण है कि जहाँ उनकी प्रतिभा ने हमे ज्वलन्त सत्य (और सच मानिए, सत्य ज्वलन्त ही है) प्रदान किया है, वहाँ अधिकाश लेखक स्वयंसिद्ध बातो की चिनगारियाँ ही बिखेर पाए है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की साधना

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर (जिनकी श्राद्ध-तिथि ७वीं अगस्त है) पहले साधक थे और बाद मे कवि। अगर कवि का यह धर्म है कि वह अदृश्य, आन्तरिक या आत्मिक जगत् के रूप-रग, सगीत-सुगन्ध, आकाक्षा-आदर्श आदि की खबर बाहर के जगत् मे जो लोग रहते है, उनको दे, तो उसे साधना करनी ही पड़ती है। नही तो उसकी आँखें और अक्ल दोनो उसे एक भूल-भुलैयाँ का नाच नचाते हैं और उसकी कल्पना-शक्ति उसे एक खामखयाली (और खाली) दुनिया मे व्यर्थ अपने हाथ-पाँव मारने को छोड देती है। गुरुदेव प्रकृति के प्रेमी और पुजारी तो जन्म से ही थे, मगर प्रकृति का प्रीतम या पुरुष जो एक गुह्य हृदय-गुफा मे रहता है, उसको पहचानने और उससे प्रेम, प्राण और प्रज्ञा पाने के लिए उन्हे साधना करनी पडी। इस साधन के कई सूत्र थे।

उनकी साधना का पहला सूत्र गायत्री-मत्र था, जिसके रटन और मनन से उन्हे प्रयत्त्व प्रतीत हो गया कि जो विभूति—व्यक्ति या शक्ति—ससार-चक्र को चलाती है, वही विभूति मनुष्य की बुद्धि (जिसमे प्राण और आत्मा का सगम है) को भी चलाती है। इसलिए सृष्टि और 'स्व' मे जो एक सामजस्य है, उसकी साधना उन्हे जीवन के हरएक क्षेत्र मे करनी चाहिए। मगर इस विश्वमय विभूति को सच्ची और पूरी तौर पर यदि पहचानना है, तो उसके साथ प्रेम का सम्बन्ध जोड़ना पडेगा, क्योकि उसे केवल नियम के रूप मे देखकर उसका शासन मानने मे मनुष्य की आत्मा कुछ विरस-सी रहती है और वह शान्ति और सन्तोष को भी नहीं पा सकती। इसलिए उन्होंने उससे पिता-पुत्र का सम्बन्ध जोडा और इसीलिए उनकी साधना का दूसरा सूत्र हुआ—'पितानोऽसि, पितानोबोधि।' पिता-पुत्र का सम्बन्ध एक अजीब सम्बन्ध है, क्योकि इसमे लालन-पालन

और शासन दोनों की जगह है। और प्रेम का वही सम्बन्ध सच्चा हो सकता है, जिसमे इन दोनो वृत्तियो या विशेपणो का आन्तरिक सम्बन्ध हो—अर्थात् प्रेम की आत्मा का प्रेय सहानुभूति और सयम, नियम और नेह के सगम मे ही समाया है। इसलिए पिता जो-कुछ पुत्र के लिए करता है, वह हमेशा कल्याणमय होता है, ऐसा एक विश्वास पुत्र के मन मे बैठ जाता है।

और कल्याणमय वह है, जो सत्यं, शिवं और सुन्दरम् है। इसलिए गुरुदेव ने अपनी साधना का तीसरा सूत्र बनाना—सत्य, शिव, सुन्दरम् मत्र। मगर कल्याणमय तो वह है, जो आनन्दमय है और आनन्द का मूल कोई छोटी-मोटी वस्तु तो हो ही नहीं सकती। इसलिए पिता की यही अभिलापा रहती है कि पुत्र किसी 'भूमा' की इच्छा रखे और उसकी आराधना करे। यही कारण था कि गुरुदेव की माधना का चौथा सूत्र था उपनिपद् का वाक्य—'भूमैव सुखं, नाल्ये सुखमस्ति।' इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि सुख की सच्ची चाबी भूमा की आराधना मे है। मगर मनुष्य, जो एक बात कई बार भूल जाता है, वह यह है कि भूमा स्वच्छन्दता से नही, बल्कि सयम से मिलती है। इसीलिए तो शास्त्र कहता है—'सतोप परमस्थाय सुखार्थी सयतो भवेत्' (जो सुख की इच्छा करता है, उसे सतोष के साथ सयत होना चाहिए)।

मगर भूमा एक सीधी लकीर की तरह नही । वह तो है एक गोल दायरे की तरह, और यह गोल दायरा सबको अपने अन्दर ले आता है—किसी को हरिजन को तरह बाहर नही छोडता। इसीलिए तो जो-कुछ सच है, सुन्दर है, शिव है, प्रेममय है, वह सब वर्णों का है, किसी विशेप वर्ण का नहीं। वहाँ किसी किस्म को छूत-छात नही। जो-कुछ भूमा या सच है, वह ससीम और असीम के समन्वय का ही परिणाम है। इसलिए भूमा या सच केवल ससार के जानने मे या केवल जिसने संसार रचा है, उसके जानने मे नही है। वह दोनो को एक साथ जानने

मे ही पाया जा सकता है। यही कारण है कि गुरुदेव का एक बडा प्रिय उपनिषद् का मत्र था—

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रतः॥

उनकी एक उपमा है (जो बार-बार उनकी कविताओ मे आई है) कि पक्षी को अपने पूर्ण जीवन के लिए नीड और आकाश दोनो की जरूरत है नहीं तो वह जीवन के आनन्द या जीवन की उमग से वचित रहेगा। केवल नीड मे रहने से उसे ऐसा लगेगा कि उसका घर एक कैदखाना है और सिर्फ आसमान मे रहने से उसे लगेगा कि उसे कही भी कोई आश्रय या आधार नही मिलता। हाँ, उसे संगीत जरूर मिलता है, मगर सिर्फ सगीत से तो उसका सब-कुछ सिद्ध नही हो सकता और न ही उसका पेट भर सकता है। इसलिए नीड उसे आश्रय और आराम के लिए चाहिए ही और आकाश उसकी आत्मा को गीत गाने की प्रेरणा या पडने की प्रेरणा देने के लिए चाहिए। इसलिए गुरुदेव की साधना का पाँचवाँ सूत्र था—सदा ससीम और असीम के बीच सम्बन्ध जोडना।

इस पंचमुखी साधना का फल यह हुआ कि गुरुदेव को हर जगह एक ही विभूति का राज्य या एक ही प्रीतम की लीला दिखाई देने लगी। इसलिए आखिर मे उनके जीवन का मूल मंत्र ईशोपनिषद का यह मत्र बन गया—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

कवि का शान्ति-पथ

शान्तिनिकेतन एक द्रष्टा कवि का दिखाया हुआ शान्ति-पथ है। कवि आज जो कुछ सोचता अथवा करता है, मानव-समाज अनागत भविष्य मे उसी का अनुसरण किया करता है। कवि को इसीलिए मानव-समाज का नियन्ता कहा जाता है। किन्तु दुर्भाग्य आदमी का इसी जगह है कि वह कवि के निदेश, उसके स्वप्न और उसकी आवाज को सुन कर भी अनसुनी कर देता है।

हमारे युग मे कविगुरु रवीन्द्रनाथ न बार-बार अपने विशिष्ट स्वर मे जीवन की सर्वागीण सार्थकता प्राप्त करने का आदर्श दुहराया था। इसी सार्थकता मे समग्र मानव-समाज का सामजस्य, सम्मिलित सगीत की मगल ध्वनि की आवाज या आश्वासन छिपा है। इसी सामजस्य और समवेत मगलगान के अतर मे सत्य की पूर्णता भी व्याप्त रहती है, सौन्दर्य की प्रेरणा भी।

धर्म मे मनुष्य के सबसे सुन्दर, सब से उदात्त सपने छिपे होते है, इसीलिए वह उसके जीवन का सर्वोपरि सत्य माना जाता है। किन्तु धर्म को अपनी चरम सार्थकता उसी समय प्राप्त होती है जब उसमे एक ओर प्रकृति और पुरुष का पूर्णतम गठबधन सपन्न होता है और दूसरी ओर मनुष्य तथा मनुष्य की भावनाएँ दोनो एक दूसरे के प्रेम-पाश मे आबद्ध हो जाएँ। अतएव जहाँ कही भगवान् की मानवीयता और मनुष्य की भगवती शोभा व्यक्त होती है वहीं हमे धर्म का अस्तित्व स्वीकार करना चाहिए। मनुष्य वहाँ सीमाहीन, व्यापक, पूर्ण और सार्वभौम मनुष्य होता है। यही कबीर का 'बेहकी' मैदान है। धर्म का अर्थ इसी अर्थ मे सार्थक है कि वह पूर्णता तक पहुँचनेवाले सेतु का निर्माण करता है। मनुष्य के अंदर सोये हुए पूर्ण 'पुरुष' को जगाता है।

इसी पूर्ण और सार्वभौम मानव की परिकल्पना मे, उसे चरितार्थ करनेवाले क्रियाकलापो मे सत्य का प्राणवान सक्रिय रूप प्रकाशित होता है। इस प्रकार से सारे बधन शिथिल होकर दूर होते है। फिर वे बधन राजनीतिक हो या आर्थिक, सासारिक हो या भौगोलिक। इसी मुक्ति से मनुष्य शान्ति की उपलब्धि करता है।

वस्तुतः शान्तिनिकेतन कवि का ऐसा ही एक प्रयोग है जिसमे शिक्षा और सस्कृति के क्षेत्र मे कवि ने इसी निर्विशेष पूर्ण मनुष्य के विकास की साधना करनी चाही थी। उसकी हवा मे यही आदर्श बसा हुआ है। शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य भी ऐसे ही वातावरण की सृष्टि करता है जहाँ पूर्णता और शान्ति की ओर छात्रो का चित्त सहज भाव से बढ सके। इसीलिए यहाँ विरोध को स्थान नही मिलता। शिल्प और विज्ञान, नगर और ग्राम, पूर्व और पश्चिम, कुलीन और अंत्यज के विरोध के लिए यहाँ अवकाश ही नही है। आदर्श और व्यवहार यहाँ मिलजुल कर रहना चाहते हैं। शान्तिनिकेतन प्रकाश के उस उज्ज्वल शतदल की तरह है जिसमे जीवन के समस्त पहलुओ की सार्थकता छिपी हुई है और जो पूर्णता की खुशबू फैलाने का प्रयास कर रहा है। स्वार्थ की गध से जब दम घुटता हो तब शान्तिनिकेतन का अस्तित्व मनुष्य के सौभाग्य की घोषणा करता है।

शान्ति इसी परिपूर्णता का दूसरा नाम है। शान्ति मे वर्जन को जगह नहीं। वह जीवन के तत्त्वो को छोडकर नही, उनके सहित पूरी होती है। कविगुरु इसी से ससार त्यागी नहीं थे। वैराग्य साधन से प्राप्य मुक्ति को उन्होने छोड़ दिया था। वे शत-लक्ष बातियो मे जीवन-ज्योति जगाना चाहते थे। प्रेम को इसीलिए उन्होने गले लगाया। जो प्रेम के पारस को पा लेता है उसके लिए क्या खरा और क्या खोटा। प्रति अणु-परमाणु को वह अपने जादू से छू कर महान् बना देता है। यह शक्ति प्रेम मे ही होती है। इसीलिए प्रभु को प्रेममय कहा गया है।

हमारे सघर्षमय, द्वेषमय मानव समाज के लिए कवि ने जो औषधि

कुछ संस्मरण

महामना पंडित मालवीय

बनारस की सभी गलियाँ बाबा विश्वनाथ के मन्दिर की ओर जाती हैं। दिन भर इन गलियो मे आपको यात्रियो की भीड दिखाई देती है। देश के कोने-कोने से यात्री आकर विश्वनाथ के दर्शन का पुण्य-लाभ करते है। साधू-सन्यासियो की भी भीड लगी रहती है। मदिर के आस-पास की गलियो मे हल्ला-गुल्ला मचा रहता है। गन्दगी इतनी रहती है कि कोई ठिकाना नही। मन्दिर के भीतर बाबा विश्वनाथ की मूर्ति का पवित्र वातावरण और बाहर गन्दगी का यह नरक, दोनो एक दूसरे के प्रतिकूल मालूम पडते हैं।

दिन का तीसरा पहर था। मूर्ति के चरणो के निकट—जो अनन्त, असीम और अनादि का साकार स्वरूप थी—एक रेशमी धोती पहने ऊँचे कद के व्यक्ति बैठे थे। उनकी रोयेंदार छाती पर शुभ्र यज्ञोपवीत पडा हुआ था जो उनके द्विज होने की गवाही देता था। उनके निकट धर्म-ग्रथ पडा हुआ था' जिसमे परमोच्च, परम पवित्र और मानव की उपासना सकलित थी। निकट ही मदिर का पुजारी चुपचाप इस पूजा-स्थित व्यक्ति को देख रहा था।

ध्यानावस्थित भक्त की आँखें मुँदी हुई थी। देखने से यह भी नही मालूम पडता था कि वह व्यक्ति साँस ले रहा है। क्योकि शरीर मे कोई हरकत नही मालूम होती थी। वह विश्वनाथ के साथ एकाकार हो रहा था। कौन कह सकता है कि जागृति की प्रकाशपूर्ण गहराई की किस तरग मे बैठकर वह अपने हृदय की महती आकाक्षा को प्राप्त करने की चेष्टा मे तल्लीन था। वे आँसू-जो रह-रहकर उसकी आँखो से नीचे बह रहे थे इसकी सूचना दे रहे थे कि भौतिक तत्त्व गलकर

इन्हीं आँखों की राह बह रहा है। तीन घंटे बीत चुके जब भक्त ने अपने कर्त्ता के ध्यान में मन लगाया था, ऐसा कर्त्ता जो मनुष्य की इच्छाओं, उसके कार्य और उसकी उन्नति का आलोचक और सजाजज़ा देने वाला है। धीरे-धीरे सन्ध्या-आरती का समय आ पहुँचा। मंदिर के दीप जला दिये गये। भक्तों की मंडली पीतल के कटघरे के चारों ओर भक्तिपूर्ण श्रद्धा के साथ खड़े-खड़े कुछ बेचैन होने लगी। पुजारी और उसके सेवकों ने मन्त्र-पाठ प्रारम्भ कर दिया किन्तु तीसरे प्रहर से जो भक्त परम प्रभु के चरणों में ध्यान में मग्न बैठा था वह ज्यों का त्यों बैठा रहा।

सहसा उसने अपनी आँखें खोलीं फिर खड़े होकर मस्तक झुकाया, और बाबा विश्वनाथ के चरणों में साष्टांग दण्डवत किया। फिर खड़े होकर मन्दिर में भक्तों और सड़क में भीड़ की दृष्टि से बचते हुए अपनी जगह वापस लौट आया।

उपसमिति के सदस्य जिन्होंने अपनी योजना पेश कर दी थी, चेयरमैन के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे, जो उनके बीच से सहसा उठकर चल दिये थे। समिति के सदस्य दोपहर से ही वहाँ बैठे थे और जब उन्होंने चेयरमैन को आते हुए देखा तो सन्तोष की साँस ली। चेयरमैन ने आसन पर बैठते हुए कहा—'महानुभावो! इतनी देर आपको यहाँ बैठाने के लिए मुझ को दुख है। मैं विश्वनाथ के मन्दिर में गया था ताकि इस योजना पर उनकी स्वीकृति ले सकूँ और मुझे आपको यह बताते हुए प्रसन्नता होती है कि हमारे नम्र प्रयत्नों को बाबा विश्वनाथ ने स्वीकार कर लिया।' उपसमिति के सदस्य आँखें गड़ाकर आश्चर्य से अपने चेयरमैन की ओर देखने लगे। उनके मस्तक पर वह प्रकाश था कि जो बाबा विश्वनाथ के हृदय में स्थित है। और क्या आप जानते हैं कि वे चेयरमैन कौन थे?—महामना पं० मदनमोहन मालवीय।

दीनबन्धु एंड्रूज़

पाँच अप्रैल सन् १९४० को जिस दिन दीनबन्धु सी० एफ० एंड्रूज़ की मृत्यु हुई उससे कुछ पहले स्वर्गीय महादेव देसाई उनसे मिलने

कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी अस्पताल मे गये थे। स्वर्गीय एड्रूज ने महादेव देसाई से यह कहा कि—"भारत की स्वतन्त्रता बहुत निकट है—वह अत्यन्त निकट है।" स्वर्गीय एएड्रूज के स्वरो मे भावानात्मक आनन्द था। उनकी दृष्टि मे प्रकाश था और उनकी कल्पना मे भव्यता थी।

उस समय बहुत से लोगो ने उनके इस बयान को एक सम्भावना मात्र समझा किन्तु क्या वे मन्तों जैसे विश्वास और उत्साह के साथ समाचार-पत्रो और सभाओ द्वारा इस देश की स्वतन्त्रता के अधिकार के लिए बीस वर्षों तक प्रयत्नशील नही रहे? बहुत से ऐसे लोग थे जो इस विश्वास को एक ज्योतिषी की भविष्यवाणी की तरह समझते थे कि जिसके निकट भविष्य मे पूरे होने की बहुत कम सम्भावना थी। अधिक से अधिक वह एक ऐसी घटना की छाया की तरह दिखाई देती थी जो आशा के क्षितिज पर झलमला रही थी।

और फिर भी उनकी मृत्यु के बाद सात वर्षों के दौर ने उनकी कल्पना की सत्यता को सिद्ध कर दिया। आज इससे कौन इन्कार कर सकता है कि स्वाधीनता की नियामत हमारी मुट्ठी मे है।

इसलिये यह उचित ही है कि अपनी इस राष्ट्रीय आत्म-प्राप्ति के अवसर पर हम कृतज्ञता के साथ दीनबन्धु एड्रूज को याद करें।

हमारे विस्फोटक भविष्य के प्रभात के वे अग्रचेता थे और समस्त विश्व के पतितों और दलितो के वे मित्र थे। दीनबन्धु सी० एफ० एड्रूज और उनके सुयोग्य पूर्वगामी ए० ओ० ह्यूम और विलियम वैडरबर्न जैसे अंग्रेज गाधी जी के राजनैतिक पूर्वचेता गोपालकृष्ण गोखले के सिद्धातो पर प्रतिभापूर्ण व्याख्या की तरह थे। स्वर्गीय गोखले ने कहा था, "भारत के साथ ब्रिटेन का सम्बन्ध भाग्यवशात् हुआ है।"

स्वर्गीय एड्रूज की इस निस्पृह सेवा के पीछे कौन सी भावना काम कर रही थी? यदि वे धर्माध्यक्ष होते तो उनके लिए बहुत बड़ी सम्भावनायें थीं किन्तु धर्म तो साम्राज्यवादियो के हाथो की कठपुतली बन गया था। अपनी सेवा द्वारा स्वर्गीय एड्रूज ब्रिटेन की—'फूट फैलाओ

और हुकुमत करो' वाली नीति का प्रायश्चित्त कर रहे थे। वे उस नीति का प्रायश्चित्त कर रहे थे कि जिसके द्वारा लिवरपूल की सड़को को भारतीय-चॉदी से अग्रेज पाट रहा था। किन्तु जो चीज उनको दुःख दे रही थी वह उपनिवेशो के अन्दर ब्रिटेन की रङ्ग-भेद की नीति थी।

वे एक अग्रेज थे कि जिनके रक्त मे राजा के प्रति वफादारी भरी हुई थी। आत्मचेतना, विश्वास और व्यवहार मे ईसा को पहली जगह देना उनके लिए इतना आसान न था और कौन कह सकता है कि एक लम्बे असे तक दीनबन्धु एड्रूज को प्रभु ईसा के इन वाक्यो ने चिन्ता मे नही डाल रखा था—"जो कुछ ईश्वर का है उसे ईश्वर को दो और जो कुछ बादशाह का है बादशाह को दो।" किन्तु अन्त मे धर्म-ग्रथ के शब्दो के ऊपर सत्य की भावना ने विजय पाई।

भारत और ब्रिटेन के परस्पर व्यवहार मे गाधी जी और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर का दीनबन्धु एड्रूज के ऊपर बहुत प्रभाव पडा। गाधी जी ने तो उनके ऊपर इस दृष्टि से प्रभाव डाला कि सचाई के निमित्त अपने आप को बलिदान कर देना चाहिए और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने उन्हे यह शिक्षा दी कि जिस दर्जे तक विश्वात्मा के साथ जीवात्मा का मेल बैठेगा उसी दर्जे तक मानव-जीवन शुद्ध और खरा उतरेगा। और चूँकि विश्वात्मा के साथ जीवात्मा के मेल का यह काम हमे पतितो और दलितो के जीवन मे धनिको के जीवन से अत्यधिक दिखाई देता है इसीलिए एड्रूज गरीब और दलितो की सेवा प्रेम और भक्तिभावना से करते थे।

यदि एड्रूज आज जीवित होते तो गुलामी से हमारे छुटकारे को देखकर वे अत्यन्त प्रसन्न होते। किन्तु साथ ही साथ उन्होने भारतीय जनता के विविध समूहो के बीच एकता के प्रचार का भी हमे उपदेश दिया होता। उन्होने हमे बताया होता कि विद्यार्थी और मजदूर अपने को गिरोहबन्दी की राजनीति और Power Politics के जहर से बचाये रखे क्योकि यही दो वर्ग है कि जो राष्ट्र और समाज की रीढ है।

श्री अरविन्द !

धरातीत लोक की नक्षत्र-खचित छत पर खड़े होकर तुमने धरती की सन्तानों को देखा, जो नीचे की छायान्ध धूमिल उपत्यका में आहत, अवनत, अवसन्न भाव से भवचक्र में पिसी जा रही थी। तुम्हारा हृदय, हे करुणाघन, विश्वव्यापी व्यथा से छलक उठा। किन्तु तुम्हारी अनुकम्पा में आग थी—आग, जो आकाश के तारों से आत्म-ज्योति के रहस्य को बरबस छीन ले आती है—यूनान के प्रोमेथियस की तरह ! सृष्टि के आविर्भावकाल से चले आनेवाले इस गुह्य रहस्य को अवगुंठनहीन करने के लिये तुमने अपनी ज्योतिष्मती प्रज्ञा की सारी शक्ति और अपने अनासक्त प्रयत्न का सारा आनन्द उड़ेल कर दिया।

अकस्मात् एक दिन पौ फटी और आत्मोपलब्धि की सुरभित मकरन्द-सुधा को आकण्ठ पीकर तुमने अपने ध्यानमग्न एकान्त-सौध से जगत् को पुकारा—"यह लो ! तुम आधुनिकों के लिये मैंने प्राचीनों के इसी सत्य को फिर खोज निकाला कि आत्मा के आलोक का रहस्य भगवान के अवतरण और मानव के आरोहण की सम्मिलित-क्रिया में ही छुपा हुआ है।"

और तुम्हारे मेघमन्द्र वट-स्वर को सुनकर धरा के पुत्रों ने फिर एक बार याद किया कि उनके जीवन की सार्थकता दिवि के पुत्र बनने में है, और अपने अन्तरतम में उन्होंने एक बार फिर अभीप्सा की दीपशिखा को प्रज्ज्वलित किया !

नये युग का सन्देशवाहक

युग युगान्तर के बाद तरक्की करते करते इनसान अन्त मे एक न एक दिन जिस कमाल को, जिस पूर्णता को पहुँचने वाला है, उसकी झलक हमे कुछ खास-खास महापुरुषो की जिन्दगी से मिलती है। उन्हीं महापुरुषो की जिन्दगी से हमे उस कमाल तक कभी न कभी पहुँचने की आशा बँधती है। इस तरह के महापुरुष हर युग मे किसी न किसी देश मे पैदा होते रहे है। ये महापुरुष अपने छोटे मे दायरे के अन्दर उस 'सत्यं शिव सुन्दरम्' परम पिता परमात्मा के सौन्दर्य और उसकी दया के एक छोटे से नमूने होते है।

इसी तरह का एक महापुरुष जो हर तरह पैगम्बर याईश्वरीय सन्देश-वाहक कहलाने का हकदार था, ठीक सौ साल हुए २३ मई सन् १८४४ को ईरान मे पैदा हुआ था। उसका नाम अब्दुल बहा था। तेहरान मे बहाउल्ला के प्रतिष्ठित घराने मे उसका जन्म हुआ। ठीक उसी घडी उसका जन्म हुआ जिस घडी कि बहाउल्ला ने जिसे 'बाब' भी कहते थे, अपने ईश्वरीय सन्देश का सबसे पहले ससार के सामने ऐलान किया।

बहाउल्ला का यह सन्देश क्या था? यह सन्देश दुनिया के सामने पूरी दीनता और हृदय की शुद्धता के साथ यह ऐलान करना था कि "कोई महान शक्ति जो अभी तक नूर के पर्दे के पीछे छुपी हुई है, जिसमें अनन्त और असख्य कमाल मौजूद है, मेरे (बाब के) द्वारा अपनी दया का स्रोत बहा रही है। उसी की मरजी पर मै चल रहा हूँ और उसी के प्रेमपाश से मै चिपटा हुआ हूँ।"

जो काम हजरत ईसा के लिये 'जॉन दी बैप्टिस्ट' ने किया वही, बहाउल्ला के लिए अब्दुल बहा ने किया। बहाउल्ला ने बहाई धर्म को कायम किया और अब्दुल बहा ने इस धर्म के सन्देश को दूर-दूर तक फैलाया।

एक बार किसी ने अब्दुल बहा से पूछा—"बहाई कौन है?" उसने जवाब दिया—"जो आदमी सारी दुनिया के साथ प्रेम करता है, जो

मनुष्य जाति के साथ प्रेम करता है और मनुष्य जाति की सेवा करने की कोशिश करता है, जो सबको सुख शान्ति पहुँचाने और सब मे भाईचारा पैदा करने के लिए प्रयत्न करता है, वही बहाई है।"

लेकिन आदमी अपने अन्दर इस विश्वव्यापी प्रेम को पैदा करने की कोशिश कैसे करे ? सत्य की खोज मे लगे रह कर। इसी से धीरे-धीरे, किन्तु एक न एक दिन निस्सन्देह मनुष्य ईश्वर को जान सकता है। और चूँकि ईश्वर अलग अलग देशों, और अलग-अलग कल्पनाओ से ऊपर है, इसलिए जाहिर है कि सत्य का खोजी भी एक न एक दिन इस सच्चाई तक पहुँच जायेगा कि—"बडप्पन उस आदमी का नही है जो केवल अपने देश या अपनी कौम को प्यार करता है, बल्कि बडप्पन उसका है जो सारी मनुष्य जाति से प्रेम करता है।" यही बहाउल्ला का कहना था। इसके लिए आदमी को "ईश्वर के साथ सदा बातचीत मे लगे रहना" होगा, या कम से कम इसकी कोशिश करनी होगी। यही ईश्वर-प्रार्थना का मतलब है। इसलिए प्रेम ही आत्मा की भाषा है। प्रेम जात-पात, धर्म-मजहब, नसल और रग सब भेद भावो से ऊपर है।

अब्दुल बहा का उपदेश था कि आदमी उन सब भावो और विचारो के बन्धनो से अपने को आजाद कर ले, जो आम तौर पर मनुष्य को एक छोटे से दायरे के अन्दर कैद किये रहते हैं। मनुष्य हर क्षण अपने को ससार का नागरिक समझे और इस हैसियत से सब का भला करने मे लगा रहे। इसलिए उसने हर बहाई को आदेश दिया कि वह दूसरो पर सदा दया करता रहे, उनके दुःख को अपना दुःख समझे और अपनी जिन्दगी को सदा सादे से सादा रखे। फजूलखर्ची किसी भी आदमी के लिए एक अक्षम्य पाप है। सब मजहबो के लोगो के साथ खुश होकर और दिल खोलकर मिलना सबका फर्ज है। आर्थिक लाग-डाट यानी एक दूसरे से अधिक धनवान होने की लालसा और साम्प्र-दायिकता ये दोनो शाप हैं, जो एक दूसरे के साथ साथ पैदा होते है। ये दोनो इसी तरह दुनिया से मिट सकते हैं।

जो बात किसी एक शख्स के बारे मे कही जा सकती है वही दुनिया के बारे मे कही जा सकती है। इसीलिए अब्दुल बहा ने सच्ची और सार्वाङ्गिक सभ्यता के लिए कुछ बुनियादी उसूल कायम किये है। वे ये है—

अ किसी एक लक्ष्य पर या किसी एक धर्म पर सबका मिल जाना।

आ सब के साथ न्याय का बर्ताव।

इ सब देशो और कौमो के बीच परस्पर ऐक्य।

ई सब जगह जनता के चुने हुए प्रतिनिधियो द्वारा हुकूमत।

उ किसी भी पद के लिए या किसी को तरक्की देने के लिए अपने दल या पक्ष से ऊपर उठकर केवल योग्यता का देखा जाना।

ऊ हर शहर या हर गॉव का आर्थिक दृष्टि से आत्म निर्भर होना।

ए हर शख्स का अपनी सम्पत्ति मे दूसरो को हिस्सेदार समझना और हिस्सा देना।

ऐ सबको काम या रोजगार मिलना।

ओ सबको तालीम दिया जाना।

औ सामाजिक कामो के लिए या उद्योगधन्धो मे कोई किसी का गुलाम न हो।

अं हिंसा से यानी दूसरो को ईजा पहुँचाने से सबका बचना। और

अः पुरुषो और स्त्रियो मे बराबरी।

पूरब और पच्छिम दोनो इसी तरह एक दूसरे के नजदीक आ सकते है और दोनो एक भाईचारे मे बॅध सकते है। सब कौमो के लोगो को रात दिन इस आदर्श तक पहुँचने की कोशिश करनी चाहिए। सारी मनुष्य जाति को सुख पहुँचाने और उनके दुखो को दूर करने का यही तरीका है। यही हमारे लिए स्वर्ग का रास्ता है। बहाउल्ला ने कहा है कि—"सच्चे ईश्वरी राज्य मे जिस समय सारी मनुष्य जाति एकता के खेमे के नीचे जमा हो जाएगी, उसी समय इस पृथ्वी पर हमे जन्नत दिखाई देने लगेगी। वही जन्नत होगी।"

डॉक्टर या डाकू ?

कहते हैं, एक बार एक डॉक्टर ने अपने एक बीमार को उसकी बहुत दिनों की बीमारी से मुक्त कर दिया। इससे बीमार का दिल शुक्र-गुजारी से भर गया। कई दिनो के बाद एक दिन हठात् बीमार की उस डॉक्टर से भेंट हो गई। स्वाभाविक ही था कि डॉक्टर साहब उससे पूछते—"कहिए जनाब, आजकल आपके मिजाज कैसे रहते है ?"

बीमार ने जवाब दिया—"सब खैरियत है। आपकी मेहरबानी से आजकल मै अच्छी तरह से चल-फिर सकता हूँ। मगर, डॉक्टर साहब, एक बात मै आपसे कहना तो भूल ही गया, वह यह कि इसके पेश्तर कि मै चलने-फिरने लायक हो सकूँ, मुझे अपने घर का सामान आदि सब-कुछ बेचना पडा !"

"वह कैसे, भाई ?"—डॉक्टर ने जरा आश्चर्य से पूछा।

बीमार ने उत्तर दिया—"नही तो मै आपका बिल कैसे अदा कर सकता था ?"

उपर्युक्त कहानी मे अतिशयोक्ति रत्ती-भर भी नही है, यद्यपि यह पूरे सोलह आना सच है, यह मै नही कह सकता। मगर एक ही उदाहरण से, जो रोजमर्रा की हालत को प्रतिबिम्बित करता है, इसकी वास्तविकता का प्रमाण मिल जायगा। थोडे ही दिन हुए मेरे एक मित्र का, जो मेरी तरह मध्यम वर्ग के हैं, आपरेशन हुआ। एक बरस पहले से उनका इलाज हो रहा था, मगर जब उनकी व्याधि की तीव्रता मे कुछ भी कमी न दिखाई दी, तो घर वालो को मजबूरन आपरेशन का निर्णय स्वीकार करना पडा। आपरेशन डाक्टर के एक खानगी अस्पताल मे हुआ। मेरे मित्र को अस्पताल, जहाँ वे दस दिन रहे, छोड़ने पर डॉक्टर का १३५०) का बिल चुकाना पडा !

मेरे मित्र का माहवारी वेतन केवल दो सौ रुपया है। घर मे तीन जने रहते है। बडी मुश्किल से घर का खर्च पूरा होता है। इतना ही नहीं, बल्कि कर्ज भी है, जो चढ गया है। मेरे मित्र बड़ी ही सादगी से रहते हैं, किसी व्यसन के आदी नही हैं। वे १२×८ की साइज के एक छोटे-से कमरे मे, जो बम्बई-उपनगर मे है, रहते है, जिसका किराया ४०) महीना है। मगर इस कमरे को पाने के लिए भी उन्हे एक हज़ार रुपया 'पगडी' देनी पडी, जिससे मजबूरन वे कर्जदार बन गए। १५ बरस की नौकरी मे उनके पास कुछ सामान और उनकी स्त्री के पास थोडे-से जेवर इकट्ठे हो गए थे, अब इन सबको बेचकर मेरे मित्र ने डॉक्टर साहब का बिल चुकाया।

मै ऐसे कई उदाहरण दे सकता हूँ। क्या डॉक्टरों की इस डाकाजनी से बचने का कोई रास्ता नही ? क्या सरकार डॉक्टरो को मजबूर नही कर सकती कि वे अपनी फीस और दूसरे खर्च इतने ज्यादा न रखे ? क्या एक बीमार का लहू चूसकर और उसकी चमडी तक उधेडकर रुपया कमाना इन्सानियत है ?

डॉक्टरो की एक और किस्म की भी डाकाजनी है, उसका भी यहाँ जिक्र कर दूं। मै कई डॉक्टरो को जानता हूँ—हाँ, वे शहरो मे रहते हैं—जिनकी माहवारी आमदनी कई हजार रुपए है, मगर वे सरकार को एक पाई भी इन्कम टैक्स नही देते। हाँ, खुद अपने पर और अपने कुटुम्ब-वालो पर खूब खर्चते हैं, क्लबो और सिनेमा-नाटको मे पानी की तरह रुपया बहाते है। मगर जब कोई बीमार हाथ जोडकर अर्ज करता है कि फीस मे कुछ कमी की जाय, तो उसे घुडककर जवाब देते है। सिर्फ इतना ही नही, ऐसे भी डाक्टर मौजूद है, जो ऑपरेशन जब आधा हो चुकता है, तो उसी वक्त बीमार के रिश्तेदारो से अपनी पूरी फीस मेज पर नकद रखवा लेते है, फिर ऑपरेशन पूरा करते है। एलोपैथ डाक्टरो का यह तरीका देखकर अब हमारे वैद्य और होमियोपैथ भी अपनी फीस दिनो-दिन बढाने लग गये हैं। कुदरती इलाज भी कुछ सस्ता नही, बल्कि

मँहगा ही है। एक दफा गांधी जी ने एक कुदरती इलाज के केन्द्र के खर्च के बारे मे सुनकर कहा था—"यह कुदरती इलाज का केन्द्र या तो बहुत पैसेवालो के लिए उपयोगी हो सकता है या जो कुदरती इलाज पर लट्टू है। गरीब लोग तो ऐसे केन्द्र से हजारों कोस दूर भाग जायँगे।"

क्या हमारे दिल्ली के देवता—और विशेषतया स्वास्थ्य-मन्त्रिणीजी—डॉक्टरो की इस डाकाजनी की तरफ कुछ ध्यान देंगे? यह प्रश्न उनसे राजघाट की बापू की समाधि पूछती है।

गांधी जी

'असत् का अन्धकार जब-जब विश्व को चारों ओर से घेर लेता है, तब-तब सत्य की प्रकाश-रेखा के समान मैं उसे चीरता हुआ बाहर होता हूँ'—इतिहास की यह वाणी, जो भगवान् की वाणी है, मानवीय विकास के अन्तराल से बार-बार गूँज उठी है। गांधी जी इसी आलोक-रेखा के एक अंश हैं। जो दुनिया भ्रम की अँधियारी में कंठ तक डूबी हुई है, मद और अहंकार से जिसका जन्म है, जिसे बृहदाकार यन्त्र और विपुलाकार देह का गर्व है, उसी के बीच गांधी जी उज्ज्वल नक्षत्र की तरह हमें संकेत कर रहे हैं—निर्देश कर रहे हैं—कि सत्य और प्रेम के आलोक पथ से हम कहाँ तक दूर जा पड़े हैं ?

कितने ही युग बीते, जिस दिन योद्धा की तरह पृथ्वी की कठिन बाधाओं को चीर कर एक छोटा-सा सुकुमार अंकुर प्राणों की विजय घोषित करने निकला, अणु-परमाणुओं के ब्रह्मांड ने उस दिन इस विजय का स्वागत किया। हमारे गांधी जी जब अपनी सुदूरवर्तिनी दृष्टि के शिखर से हमारे बीच आ खड़े हुए, तब हम धरती के जीवों ने भी ऊपर की ओर ताककर देखा, आत्मा के नवजन्म और नवचैतन्य का अनुभव किया।

'वैराग्य की साधना में मेरी मुक्ति नहीं है'—गांधी जी ने उत्तर दिया जब हमने उनसे पूछा कि हिमशुभ्र स्वच्छ परिवेश को छोड़ वे क्यों कर अपने यात्री के वस्त्रों में हमारी धूलिधूसरित गलियों की मलिनता लगाने आ गये ? उन्होंने और भी कहा : 'मेरे गुरु वहीं छिपे हैं, जहाँ किसान मिट्टी तोड़ रहा है और मजदूर गिट्टी फोड़ रहा है। उसके वस्त्र श्रम की धूल से मैले हैं। साथी की सेवा में मुझे भी उस सुन्दर कालिमा की छाप धारण करनी होगी, तभी न उसके योग्य हो सकूँगा ?' और एक साथ ही उन्होंने हल को थामा, चरखे को घुमाया, झाड़ू को सँभाला। दैवी

श्रमिक पर अपनी स्थिर दृष्टि जमा कर वे दिन पर दिन अक्लान्त श्रम करते रहे, अपने को मिटाते रहे। उनका स्वच्छ कौपीन इसी से हमारे दागो से भर उठा। किन्तु तारो की तरह इन चिह्नो मे एक प्रकाश था, जिसके सहारे कोटि-कोटि नर-नारी जीवन की राह पर चल निकले।

इसीलिए हम आज गाधी जी को जहाँ पाते है, वह जगह है—किसान का खेत, जहाँ उसकी मेहनत भूखे को दो दाने अन्न जुटा रही है, जहाँ जुलाहा अपनी लज्जा ढँकने के लिए दो हाथ कपडा बुन रहा है, जहाँ लाछित ने दुर्दान्त शक्तिशाली के विरुद्ध निर्भय माथा उठाया है, जहाँ तीर्थ-पथ का यात्री सत्य के शिखर की ओर पॉव-पॉव चुपचाप बढता आ रहा है और जहाँ नारी अपने पुण्य की शक्ति को लेकर पुरुष की छाती मे न्याय के लिए अकेले लडाई करने को अनुप्राणित कर रही है। और कहानी के उस अमर पछी की तरह जो अपनी चिता की भस्म मे से फिर जाग उठता था, कोटि-कोटि मानवो के अन्तर मे वे बार-बार जीवन्त भाव से जाग उठे है। दीर्घायु हो हमारे गाधी जी!

बापू के चरणों में

बहुत पहले मैंने अपने एक ईसाई मित्र से एक भजन की कुछ पंक्तियाँ सुनी थी। जब कभी भगवान् बुद्ध या हजरत ईसा सरीखे मानवता के पुजारी की वर्षगाँठ मनायी जाती है, तो वे अक्सर मेरे दिमाग में घूम जाती हैं। वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

ईसा यदि हज़ार बार भी,
पैदा हों बेथलहम मे—
पर आत्मा अनाथ तेरी,
यदि रमे न वे तेरे मन मे।

मै जब गाधी जी की आगामी वर्षगाँठ पर सोचता हूँ, तो मेरा मन मुझसे पूछता है, "क्या गाधी जी तुम्हारे मन मे आ बसे है? आज बीस साल से तुम गाधी-जयन्ती मनाते आ रहे हो। क्या इससे तुम्हारे आचरण या गुणो मे रत्ती भर भी फ़रक पड़ा है?" और तब फिर लज्जा से मेरा सिर झुक जाता है।

गाधी जी को प्यार करने या उनमे जीवित रहने का मतलब है अपने आप को सत्य की खोज मे खपा देना। क्या मैने ऐसा किया है? इसके लिए क्या मैंने कभी निश्चय किया है कि मार्ग मे जो भी बाधाएँ आएँ मै ईश्वर और मनुष्य मात्र के प्रति अपने व्यवहार मे कठोर सदाचार का पालन करूँगा? मुझे अफ़सोस है कि मै अभी ऐसा नही हो पाया हूँ। इसके विपरीत मै वही खड़ा हूँ जहाँ समझौता और अर्ध सत्य अपना डेरा डाले हुए है।

गाधी जी से स्नेह करने का मतलब है अपने मन और आत्मा मे यह दृढ विश्वास जमा लेना कि आत्मा एक है और अविभाज्य है। फिर ऐसा विश्वास रखते हुए आत्मा के सम्पूर्ण अगो को, बिना उनके अधिकार

का किसी तरह विवेचन किए, प्रेम से आदर करना चाहिए, क्योंकि गाधी जी अपने अधिकार की अपेक्षा मनुष्य के प्रति अपने कर्तव्य पर ज्यादा जोर देते हे। जहाँ तक मानव प्रेम का सम्बन्ध है, इसका फल यह होता है कि ऊँच-नीच, धनी-गरीब, विद्वान-मूर्ख और काले-गोरे की भावना दूर भगा दी जाती है। परन्तु मै क्या हूँ? अब भी तो मेरा मन जात-पाँत, श्रेणी या रग को सकीर्ण भावना से आक्रान्त है!

गाधी जी मे श्रद्धा रखने का अर्थ है, अटल ईश्वर-भक्ति और पद-दलित, अनाथ, अशक्त तथा दुखियो की निष्काम सेवा। क्या मुझमे बापू की उत्तरोत्तर बढती हुई दैनिक और आत्मिक पवित्रता का रचमात्र (कण भर) भी असर है?

गाधी जी के सन्निकट होने का मतलब है अधिकार की भी भावनाओं से अलग होना। अपने प्रत्येक स्वॉस के तार-तार को इस सत्य से—'हे चिरन्तन! तुम्हारा ही सब कुछ है, मेरा कुछ भी नही—' झकृत करते रहना चाहिए। मेरा प्रत्येक कार्य मेरी तुच्छता और मेरी हेसियत का दुनिया के सामने इजहार करता रहता है।

अन्त मे गाधी जी मे एकात्म होने का अर्थ है ईश्वर की निम्नतर सृष्टि मे उतर पडना, जिससे तुम्हे प्रत्येक प्राणी मे उसकी पूर्णता प्रतीत हो।

सक्षेप मे अब स्वीकार करना पडता है कि रस्म-रिवाज की रूढि के कारण ही प्रत्येक वर्ष मै गाधी जी के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ, परन्तु वास्तव मे यह गाधी जी के सिद्धान्तो के प्रति दृढ सकल्प की श्रद्धाजलि नही होती।

फिर भी मेरा अन्तरतम अनन्त प्रेम और असीम श्रद्धा से बापू की चरण-रज को अविरत चूमता रहता है। कभी-कभी मुझे ऐसा लगता है कि मेरी आत्मा गाधी जी की आत्मा का अभिनन्दन कर रही है। बस फर्क यही रहता है कि उनका ब्रह्म जाग्रत् है और मेरा सुप्त।

अपने इस आत्म-विवेचन मे मैने गाधी जी को प्रतिभा और

महानता की कुंजी पा ली है। प्याज के छिलके की तरह आत्माभिमान को निरन्तर अलग करते रहने ही से ब्रह्म का पूरा ज्ञान हो सकता है। पर दुख है जिस स्वार्थ ने मेरी चिर-जाग्रत् चिर-सजग और चिर-सेवावनत आत्मा को ढँक लिया, उसी से मै चिपटा हुआ हूँ!

बापू के कदमो पर चलना एक महान वरदान है। यह वरदान आजीवन सत्य, प्रेम, न्याय, सादगी, समता और स्वतन्त्रता की साधना करने से ही मिल सकता है। क्या हम लोग इसके लिए तैयार है ? यदि हाँ तो मै कहूँगा कि बापू का जीवन व्यर्थ नही है। हम लोग कितने भाग्यशाली हैं कि इतिहास के उस काल मे पैदा हुए, जब मनुष्य के रूप मे ईश्वर चल रहा है और हमारे बीच काम कर रहा है।

गांधी जी के साथ एक प्रातःकाल

२२ नवम्बर १९४५। 'मलाबार हिल'—जहाँ बबई की सम्भ्रान्त जनता अपना नीड बाँधे है, देश के एक प्रसिद्ध धन-कुबेर के राजप्रासाद का एक प्रशस्त कमरा, सूर्य अभी प्राची से निकला नही है, लेकिन किसी भी क्षण तपाये हुए सोने की दीप्ति निखराते हुए निकल सकता है। धीमी और ओस से धुली हुई हलकी हवा उस तरफ अपना झीना आँचल पसारे हुए है, बाग मे उसका ऐश्वर्य और भी स्पष्ट है। तकिये पर सिर को सहारा दिये बापू चारपाई पर लेटे हुए है और उनके पॉव ऊपर को लगभग समकोण बनाते हुए बिस्तर पर रखे है। उनकी दाहिनी ओर अधेड अवस्था के एक धनी सज्जन—सिर से पैर तक सफेद खादीपोश (वैसे सिर पर एक काली टोपी जरूर विद्यमान थी)—बैठे है और बाईं ओर दो महिलाएँ है जिनमे एक तो पचास के उस तरफ है, दूसरी इस तरफ़। वे दोनो हिन्दी-उर्दू के समन्वय और सहयोग के सम्बन्ध मे किये हुए अपने काम-काज की चर्चा कर रही हैं। देश की राष्ट्रभाषा के उद्भव और विकास के क्षेत्र मे उनके कार्यों या भविष्य के मन्सूबों को गाधी जी कभी-भी जाँच कर बैठते हैं, अर्थात् अचानक ऐसा सवाल कर बैठते है जिससे वे चकित हो जाती हैं और महसूस करती है कि उनसे बातचीत करते समय सच्चाई और सावधानी दोनो की बडी जरूरत हुआ करती है।

गाधी जी के मेजबान की धर्मपत्नी का प्रवेश। यद्यपि उनके पति अशेष धन-दौलत के स्वामी है, तथापि वे हाथ का कता-बुना ही पहनती है। हाथो में बकरी के दूध का भरा गिलास और छीले हुए सतरे की फॉको से भरी एक तश्तरी सँभाले हुए वे आई। गाधी जी नाश्ते के लिये उठ बैठे। इसी समय भारतीय राजनीतिज्ञो के बीच सिह के समान सरदार पटेल कमरे मे आये। उनके साथ उनकी कन्या भी थी जो उनकी

'प्राइवेट सेक्रेटरी' थीं। भाषा के प्रश्न मे सलग्न गाधी जी को देख कर सरदार बोल उठे "आप इस उम्र मे यह नई जिम्मेदारी क्यो मोल ले रहे हैं, जब कि आपसे कही कम उम्र के कार्यकर्त्ता इससे कही पहले अपनी छोटी-मोटी 'ड्यूटियो' से छुट्टी पाना चाहते हैं?" सरदार की बातचीत का पैनापन मशहूर है। तीक्ष्णता के साथ चमक भी होती है, सरदार की पैनी बात भी मुस्कराहट की झलक लिये हुए थी। "यह तो—पेट मे दर्द न भी हो तो—बैठे-ठाले ठोकपीट कर दर्द पैदा करना है। भला सोचिये तो, यह क्या उचित है?"

"ओ हो" गाधी जी ने खुश हो कर अपनी उस सुन्दर हँसी के साथ जवाब दिया जो तूफान और गुस्से को देखते-देखते शात कर दिया करती है, "मै तो 'महात्मा' के नाम से मशहूर हूँ न?—इसीलिये सब तरह के चमत्कार दिखाने का मुझे तो अधिकार है।"

सरदार की 'कन्या—सेक्रेटरी' बोली, "अच्छा, मान भी लिया, तो मेरा यह आग्रह है कि यदि आपको अपने इस ट्रस्ट के बारे मे अखबारो मे कोई वक्तव्य देना भी हो तो वह बिल्कुल छोटा होना चाहिए, मिसाल के तौर पर चार लाइन से काम चल जाये, अभी की तरह लम्बा वह न हो।"

गाधी जी तो पाई-पाई और शब्द-शब्द की कजूसी मे उस्ताद हैं। बोले—"क्या वह सचमुच बहुत लम्बा हो गया है? तब एक काम करो। तुम उसे छोटा करके चार लाइनो का बना दो, मै ऑख मूँद कर सही कर दूँगा।"

इसका कोई उत्तर नहीं आया। गाधी जी ने मुस्कराते हुए कहा—"जानकारो का कहना है कि आलोचना करने वाले को यह याद रखना चाहिये कि अगर एक तरफ किसी बात की आलोचना करे, तो दूसरी तरफ उसकी जगह कोई रचनात्मक प्रस्ताव भी सामने लाये।"

हम सब चुप रहे। गाधी जी कहते चले—"एक चित्रकार था। उसके चित्र बड़े सुन्दर होते थे लेकिन जनता उसके काम की अक्सर कड़ी

आलोचना ही किया करती थी। सो एक दिन उसने एक सुन्दर चित्र स्टूडियो के बाहर टॉग दिया और आने जाने वालो को उसके कलात्मक दोप दिखलाने के लिये पुकारा। बस, फिर क्या था लोग तो इस जाल मे फौरन ही फॅस गये। किसी ने चित्र मे जरा-सा भी गुण नही देखा —यद्यपि कला के पारखियो ने उस चित्र की आगे चलकर बेहद प्रशसा की।"

गाधी जी का स्वल्प जलपान तब तक समाप्त हो चुका था और अब वे बाहर बाग मे टहलने जाने के लिए निकले। जैसे ही वे खडे हुए और उनकी "कन्नी" चप्पले सामने सरका दी गई कि सरदार पटेल ने कमरे के कोने मे खडी हुई एक पूरे आकार की गाधी जी की शबीह (माला) की तरफ इशारा किया जिसके सामने हलका पर्दा पड़ा हुआ था और जिसे किसी चित्रकार-बहिन ने बनाया था, "बापू, अगर आपको अपनी ही छवि देखने के लिये दर्पण की जरूरत थी तो वह बहुत आसानी से मिल सकता था, तब फिर भला यह क्यो ?"

"लेकिन मै अपना चेहरा दर्पण मे देखना तो नही चाहता, इसलिए तो चित्र पर परदा पडा हुआ है।" बापू ने तत्परता से जवाब दिया। और इस बात ने कमरे को उजली हॅसी से आलोकित कर दिया। अपनी छोटी हस्तियो के द्वारा हम लोग जिस तरह वातावरण को सकीर्ण किए हुए थे उसमे सहज ही एक प्रसन्न प्रशस्तता आ गई।

थोडी ही दूर पर गाधी जी ने अपने दोनो नातियो के साथ मुझे खडे देखकर पूछा "ये बच्चे अपनी चित्रकला के अभ्यास मे कैसी क्या प्रगति कर रहे हे ?"

मैने सभ्रमपूर्वक जवाब दिया—"वे तो अभी अपनी साधना मे ही लगे है।"

"साधना ?"—सत्य के पुजारी बापू का तपस्वी मन स्नेह और गाभीर्य से भर आया—"तब तुम कदाचित् इस शब्द के गहरे अर्थ की तरफ ध्यान नही दे रहे। मै तुम्हें कहूँ कि 'साधना' दुर्गम पहाड़ की चढाई

की तरह कठिन वस्तु है । मेरे इम्तहान को पास करना कुछ बहुत आसान नहीं है ।"

गाधी जी प्रातःभ्रमण के समय दिन की और घडियो की अपेक्षा कुछ अवकाश मे रहते हैं । इसी भरोसे सिंध और पञ्जाब की कुछ लड़-कियाँ उनके दर्शन के लिए चली आई । लेकिन कही उनके स्वाभाविक कार्यक्रम या चिन्ता-धारा मे बाधा न पडे, इस डर से वे कुछ फासले पर ही खडी रह गई ।

"ओ हो, क्या हरिजन फड के लिए कुछ रुपये देने आई हो ?"—गाधी जी ने उन्हे अभिवादन करते देखकर शरारत से कहा ।

यह तो बडी परेशानी हुई । कहाँ सीधो-सादी नमाज और कहाँ यह रोजे की झझट । बेचारी लडकियो ने अपने अपने बैग टटोलने शुरू किये । मैने चुपके-चुपके बापू से कहा—"हिन्दुस्तान की सरकार भी अपने टैक्स की वसूली मे कुछ लोगो को मोकूफ (मुक्त) कर दिया करती है, लेकिन आप अपने कर की उगाही मे जरा भी रिआयत नही करते ।"

"क्यो करूँ—खासकर उनके प्रति जो सिन्ध से आये है ?" बापू ने कहा ।

मैने अंग्रेजी में कहा—"क्यो नहीं—सिर्फ इसीलिए कि 'दे हैव सिण्ड' [उन्होने सिन्धवासी होने का पाप किया है] ?"

गाधी जी खिलखिलाकर हँस पडे; उनकी हँसी नीले आकाश की तरह उन्मुक्त थी । तब सूरज काफी निकल आया था । गाधी जी ने तब धीरे से कहा—"तो अब अपने-अपने काम पर !" और फिर वे अपने कमरे मे लौट आये तथा फौरन कामकाज के डेस्क पर झुक पडे । हम लोग भी अपने रोजमर्रा की बँधी-सधी दिनचर्या—साधारण आदमी के इस परम पवित्र धर्म-कार्य को सम्पन्न करने मे लग गये ।

गांधी जी की एक झलक

नदी के तीर, बॉस की बनी एक झोपडी मे, अपने ही सरल देश के सरलतर उपकरणो से सरलतम देशवासी के हाथो बनाई हुई कपास की 'गादी' पर, मिट्टी की दीवार से टिका हुआ सन्यासी जैसा कोई व्यक्ति बैठा हुआ था। उसका विशाल मस्तक आकाश के गुम्बज-जैसा दीख रहा था। उसके नेत्रो की राह अतर की गम्भीर चिता बीच-बीच मे चश्मे को भेद कर बाहर झलक उठती थी। उसका मुख, मुख नही, मानो ज्योतिष्क हो। जान पडता था मानो वह पवित्रता तथा अथक परिश्रम के जीवन का जीवंत अवतार हो। इस समय वह स्पष्टतया मनुष्यों की दुनिया का कोई बहुत पेचीदा मसला सुलझाने मे डुबा हुआ था। चारो ओर नदी तीरवर्ती बालुका-राशि भी विस्तृत थी, शाति भी, जो अस्तगामी सूर्य के सुनहले प्रकाश मे चमक रही थी।

सॉप ! सॉप !!—कोई व्यक्ति उत्तेजित स्वर मे पुकार उठा और पल भर मे ही भीतर आकर कुटिया की आत्मा के निकट खडा हो गया।

सरीसृप की छन्दोमय देह का आगन्तुक के हाथ मे झूलते हुए देख कर भगवान् तथागत की प्रशात मुद्रा और सीमाहीन करुणा की याद दिलाने वाले धीर कठ से प्रश्न आया—क्या जहरीला है ?

हो सकता है , किन्तु मै ठीक नही कह सकता !—आगन्तुक ने उत्तर दिया।

तब उसे जाने दो, आदेश आया। दुनिया इतनी काफी बड़ी है कि उसे भी तनिक-सा अवकाश खेलने-खाने और प्रेम करने के लिए मिल जाएगा।

सॉप की दोनो आँखें तारिकाओ की भॉति चमक उठी। बन्धनमुक्त होते ही वह अपने जेलर के हाथो से मुक्ति पाकर अपरिसीम विश्व मे

विलीन हो गया। किन्तु जाने से पूर्व उसने कुटिया के प्राणो के चरणो पर अपनी दुहरी जीभ एक बार स्नेहपूर्वक फेर ली। ठीक भी था, उन्ही की अनुकम्पा ने, जो जीव मात्र पर श्रावण-घन की तरह निरपेक्ष बरसा करती है, क्या उसे नवीन मुक्ति और नवीन प्राणो का वरदान नही दिया था?

अहिसा का अर्थ क्या है? अर्थ है सृष्टिकर्त्ता की निखिल सृष्टि पर छा जानेवाली काली मृत्यु को प्रेम के पुनीत जल से शुद्ध कर लेना—जीवन और प्राणों का जहाँ तक साम्राज्य है वहाँ तक अपने मानवीय प्रेम का साम्राज्य प्रसारित करना, समाज का आध्यात्मीकरण! अहिसा का मर्म निहित है—साक्षात् शकर की मगलमयी मूर्त्ति मे!

गांधी जी की एक और झाँकी

हर वर्ग और हर धर्म के लोगों की भीड एक पब्लिक हॉल मे ठसाठस भरी हुई थी। सन्ध्या का समय था। गोधूलि बेला थी, जब खेतो से चर कर गाय अपने-अपने थानो को लौट रही थी। उनके पैरो से ठोकर खाकर धूल बादल बन कर उड़ रही थी और दिन भर की थकी-माँदी दुनिया को अपनी पवित्रता से ढक रही थी। हॉल मे उपस्थित जनता उत्सुक हृदय उस दिन के मेहमान की बात सुनने की प्रतीक्षा मे थी। मेजबान ने सारे शहर की तरफ से मेहमान का स्वागत करते हुए परिचय दिया था कि मेहमान एक ऐसे गुरु हैं जिन्होने अपनी आत्मा के साथ साक्षात्कार किया है, वे एक बहादुर योद्धा, और चतुर बनिया है। उस दिन के मेहमान, महापुरुषो के योग्य नम्रता की मूर्ति थे, वे सदा सच्चिदानन्द की तलाश मे रत रहे हैं। वे वेदव्यास की तरह जिज्ञासु, भीष्म पितामह की तरह योद्धा और बाजार मे बैठने वाले नानक की तरह आत्मदर्शी थे। सत्य की राह मे ये विविध रूप मिल कर उनके अन्दर प्रकाशवान हुए थे।

अन्त मे पुष्पहारों से भूषित, उस दिन के मेहमान, जो स्वय गान्धी जी ही थे उत्सुक जनता के सामने व्याख्यान देने खड़े हुए। ये उनके पहले वाक्य थे।

"जलसे के सभापति ने मुझे इस बात के लिए सराहा है कि मैने अपने जीवन मे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनो का सतुलन किया है। किन्तु उन्होने मेरे चरित्र की बुनियादी चीज को नजर-अन्दाज किया है कि मैने सदा एक ऊँचा शूद्र—मानवता का सेवक—बनने की आकाक्षा की है।"

उस समय स्वर्ग की सुनहरी छत से वे रजत आत्माएँ जिन्होने प्राचीन काल मे प्रगति के दुर्गम पथ पर मानवता का मार्ग प्रदर्शन किया था, एक

स्वर मे बोल उठी—"तुम हममे से एक हो और हमेशा-हमेशा के लिए तुम्हारी जगह हमारे बीच मे सुरक्षित है।"

जनता ने बेशक यह गुप्त वार्ता नहीं सुनी किन्तु जब उसने हर्षोन्माद से तालियाँ बजाई तो मानो वह अवचेतन दशा मे उन युगो के सत्य का समर्थन कर रही थी कि—

"जो बडा होना चाहे उसे सेवा करनी चाहिए।"

गांधी जी और गेटे

सस्कृति (कल्चर) का अपना एक अलग राज्य है । वहाँ सब राजा हैं । वह एक सच्चा जनतन्त्र है । वहाँ ज्योति ही ज्योति है । घृणा रूपी अन्धकार को उसमे कोई जगह नही । सस्कृति के मन्दिर मे घृणा कुफ्र. है । सस्कृति की वेदी पर हर मनुष्य अपनी तुच्छ और पवित्र भेंट लाकर चढाता है और विश्वात्मा की महान् शक्ति हर भेंट को एक समान उत्साह के साथ स्वीकार करती है ।

हमे सस्कृति की भेंट चढाने वाले की जाति या उसके वर्ण से कोई मतलब नही । हमे केवल उसी भेंट के गुण को देखना है । उस भेंट के गुणो को जिसे वह सत्यं, शिव, सुन्दरम् के सच्चे और महान् आदर्श की सेवा मे चौराहे पर लाकर रख देता है । गायक मर जाता है किन्तु उसका गीत हमेशा जीवित रहता है ।

इसलिए आशा की जाती है कि इस जमाने में जबकि देश-देश के बीच जबरदस्त और गहरी शत्रुताएँ उभर रही हैं सस्कृति का पल्ला एक दूसरे की निन्दा के मैल से गन्दा न किया जाएगा और उसे सूर्य के प्रकाश मे चमकता रहने दिया जाएगा । सचमुच वे सब लोग तारीफ के काबिल हैं जिन्होंने वर्त्तमान महायुद्ध की गरमा गरमी और पक्षपात से ऊपर उठ कर अपनी सस्कृति के अतिरिक्त संसार की और सब सस्कृतियो के लिये सच्चा आदर अपने दिल मे बनाए रखा है । सचमुच इस तरह के लोग ही दुनिया के सच्चे रत्न हैं और उन्ही से दुनिया जिन्दा है ।

दुनिया के सब लोग इस बात को मानते है कि गाधी जी यदि इस जमाने के सब से बडे आदमी नही, तो सब से बड़े आदमियो में से एक जरूर हैं । जर्मनी का महान् कलाकार गेटे अपने समय मे ससार के चोटी के कलाकारो मे गिना जाता था । मनुष्य-समाज के लिए गाधी जी का

जो कुछ मिशन है, जो कुछ उनका सन्देश है, वह उनकी जिन्दगी के एक-एक काम और एक-एक बात से साफ़ झलकता है। इसी तरह गेटे के सर्वश्रेष्ठ गीत-नाट्य 'फास्ट' से कवि की कल्पना शक्ति उसके आदर्श-वाद और उसकी आकॉक्षाओ का पूरा-पूरा पता चलता है।

गेटे दूरदर्शिता और शब्दो का कलाकार है। गाधी जी दूरदर्शिता और कर्म मे दक्ष हैं। फिर भी ये दोनो एक दूसरे के साथी और एक दूसरे से हाथ मिलाते हुए दिखाई देते हैं। एक तरह से यह कहा जा सकता है कि गेटे का दिल जिस तरह का आदर्श आदमी चाह सकता था गाधी जी उस तरह के आदर्श आदमी हैं और गाधी जी का दिल जिस तरह का आदर्श कलाकार चाह सकता है गेटे ठीक वैसा ही कलाकार था।

गेटे के अनुसार आदर्श मनुष्य की पहचान क्या है? उसमे क्या-क्या गुण होने चाहिए? अपने नाटक मे गेटे ने 'फास्ट' का जो चित्र खीचा है उससे हमे इस सवाल का जवाब मिल सकता है। गेटे का चरितनायक परोपकार के सब से ऊँचे शिखर पर खडा हुआ है। दुनियावी ताकत और शान-शौकत की घाटियो की सैर करने के बाद, सासारिक सुख और सौन्दर्य को भोग चुकने के बाद—और ये सब चीजे उसके जीवन मे मानो तेजी के साथ आ-जा रही थी—'फास्ट' को जबरदस्त निराशा होती है, वह अनुभव करता है कि मै बहुत बड़े धोखे मे था। अन्त को उसे स्थायी और सच्चे सुख का रास्ता दिखाई देने लगता है। एक नजारा उसकी आँख के सामने से फिर जाता है। वह एक योजना बनाता है—

"मेरी कल्पना शक्ति ने एक बहुत बडी योजना बना डाली"

वह योजना क्या है?

"वह अपूर्व सुख सदा-सदा के लिए मेरा हो,

"इस शानदार समुद्र को मै किनारे पर बॉध कर रख दूँ!

"जल की यह राशि अपनी सीमा के अन्दर रुकी रहे और दूर, पीछे को स्वय अपने साथ ही टकराती रहे!

"पग-पग पर मैने तय कर लिया कि मै इस समुद्र का किस-किस तरह मुकाबला करूँ, यही मेरी इच्छा है।"

और उसने अपने इस स्वप्न को किस तरह पूरा किया ? उसके हृदय और मस्तिष्क को चलाने वाली शक्ति क्या थी ?

"कर्म ही सब कुछ है, यश या कीर्ति कोई चीज नही।"

उसने किस मसाले से काम लिया ?

"इस तरह के ओजस्वी लोगो को जमा किया जाए, जिनमे उदारता हो, जिन्हे सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति की परवाह न हो।"

और इस सब का परिणाम क्या है ?

"मै लाखो और करोडो आदमियो को जमीन दे सकूँ, जमीन सुरक्षित हो या न हो, लेकिन मेहनत करने से फल दे सके।

हरे भरे और उपजाऊ खेत ..धरती पर स्वर्ग की तरह दिखाई दें... और मै वहाँ बहुत-से लोगो को देखकर खुश होऊँ, ऐसे लोगो को जो स्वतन्त्र लोगो के अन्दर स्वतन्त्र भूमि के ऊपर खडे हुए हो।"

क्या इस जन्म के अन्दर गान्धी जी के जीवन का यही लक्ष्य और यही नमूना नही रहा है ? करीब ५० बरस हो गए जब से कि वे "शानदार समुद्र को किनारे से बाँध कर रखने मे" लगे हुए है, यानी वे जन-सामान्य का रक्त चूसने वाले और उनके श्रम से बेजा फायदा उठाने वाले बडे-बडे कल कारखानो और देश पर पूँजीवादी उद्योग धन्धो के हमलो को रोकने मे और जन-सामान्य को उन हमलो के कँटीले पजो से छुड़ाने मे लगे हुए है। गाँधी जी का खेती के धन्धे और चरखे पर जोर देना वास्तव मे 'फास्ट' के इस सिद्धान्त को अमल मे लाना है कि—

"कर्म सब कुछ है यश या कीर्त्ति कुछ नही।" वह हमेशा मौके और बेमौके "ओजस्वी और शक्तिशाली लोगो को" जमा करते है ? जिस स्वप्न को पूरा करने के लिए, जिस लक्ष्य की पूजा के लिए, उन्होंने अपने जीवन की सारी शक्तियाँ और अपना सर्वस्व लगा दिया वह यही है कि उनके देशवासी "स्वतन्त्र लोगो के बीच मे स्वतन्त्र भूमि पर खडे रह सकें।"

मानव-इतिहास मे हमेशा काम करनेवालो को उनकी अपेक्षा ज्यादा मान मिला है जो केवल दूर के स्वप्न देखते है। स्वप्न देखने वाला आदर्शवादी 'क्लीओ' इतना प्रिय नही है कि जितना काम करने वाला कर्मी। इसमे सन्देह नही कि जीवन मे कवि या गायक की भी अपनी एक विशेष जगह है। आदर्शवाद की उन चोटियो पर जो स्वर्ग को छूती है कवि का बहुत बड़ा रुतबा है, किन्तु जो आदमी चल कर उन चोटियों पर पहुँचता है उसका रुतबा और भी ज्यादा है। ठीक यही अर्थ हजरत ईसा के इन शब्दो का है "आदमियो मे जो बडा बनना चाहे वह सेवा करे।"

इस सम्बन्ध मे कि कवि बडा है कि सेवक, गाधी जी के जीवन की एक घटना बयान की जा सकती है। कई वर्ष हुए एक सार्वजनिक सभा मे गाधी जी की ओर मान प्रकट करते हुए जलसे के सभापति ने कहा कि—हमारे प्रेम और आदर के पात्र गाधी जी मे तीनों गुण एक जगह जमा है, ब्राह्मण की बुद्धिमता, क्षत्री की वीरता और वैश्य की व्यावहारिक बुद्धि। गाधी जी ने सभापति को धन्यवाद देते हुए कहा कि यदि सभापति की बात सच भी है तो कम से कम वह अधूरी जरूर है। गाधी जी ने कहा कि मै अपनी जिंदगी भर विनम्र सेवा की उन पवित्र चोटियो तक पहुँचने की कोशिश करता रहा हूँ जिनके प्रतिनिधि शूद्र है।

कार्लाइल ने ठीक कहा है कि "Work is worship" अर्थात् काम ही पूजा है। जिसे हम लोग आमतौर पर पूजा कहते हैं वह वास्तव मे पूजा हो भी सकती है और नही भी। काम करने वाला मुमकिन है अपने ही लिए काम करता हो किन्तु वह सदा दूसरो के लिए भी काम करता ही है। किन्तु पूजा करने वाला बहुधा केवल अपने ही मोक्ष या निर्वाण के लिये पूजा करता है। मनुष्य जाति के कुछ महान् उपदेशको की यह दिव्य भावना, कि हम उस समय तक पूर्णानन्द से व्याप्त स्वर्ग मे कदम न रखेंगे जब तक कि हम बार-बार जन्म लेकर दूसरो को भी वहाॅ ले चलने की कोशिश न कर ले, बहुत गहरा अर्थ रखती है। ईसा ने कहा है—"जो आदमी दूसरो के लिए अपना जीवन देता है वही अपना

जीवन बचा सकता है।" हमें क्या पता मुमकिन है कि आसमान में सदा चमकने वाले तारे उन लोगो की ही आत्माएँ हो जिन्होने मनुष्य जाति की सेवा की है और उसे पूर्णता की ओर आगे बढते रहने मे मदद दी है।

इसलिए महान् कलाकार गेटे की नज़रो मे गाधी जी सनातन आदर्श पुरुष हैं, वे कर्मी हैं क्योंकि वे अपनी पूरी शक्ति-भर सारी दुनिया का भला करने मे लगे रहते है और अपनी आत्मा और भूमि को माध्यम बनाकर सबके कल्याण के प्रयत्न मे लगे रहते है। मुमकिन है कि इस पीढी के आदमियों को ऐसा मालूम हो कि यह व्यक्ति रेत मे हल चला रहा है, किन्तु जब हम ऐसे मनुष्य के कामो और उसके आदर्शो के असर को देखते हैं तो अन्त मे हमे पता चलता है कि यह मनुष्य जिस मरुस्थल मे हल चला रहा है उस मरुस्थल से वे तारे छिटक-छिटक कर बाहर गिरते हैं जिनसे अँधेरे मे चलने वाले मुसाफिर पथ भूलते समय अपना रास्ता देख लेते है।

गांधी मलंग

सूर्योदय मे अभी देर थी, मुझे पुरानी दिल्ली से राजघाट की ओर जाते हुए कुछ लोग दिखाई दिये। ऐसा मालूम होता था कि वे यमुना मे स्नान करने के लिए जा रहे हैं। मै भी उनके पीछे-पीछे हो लिया। बापू की समाधि पर पहुँच कर वे कुछ देर वहाँ बैठे और 'रघुपति राघव राजा राम' का गान करते रहे।

शान्ति के वातावरण मे बापू की आत्मा को प्रणाम कर वे आगे यमुना की ओर चल दिये, मेरी आँखे दूर तक इन लोगो को देखती रही। मैने अपने दिल में कहा—आज इन लोगो का स्नान सच्चा स्नान होगा, क्योकि नदी मे नहा कर तो केवल शरीर साफ होता है, किसी महापुरुष की चरणरज तो मानव आत्मा को भी स्वच्छ करती है।

यमुना की ओर जाने वाले ये लोग बराबर 'रघुपति राघव राजा-राम' का गान कर रहे थे। मैने देखा कि उनमें से एक बडी संख्या 'सीता राम' के बाद अटक जाती थी, जैसे कि गांधी जी ने कभी भी बाकी की दो पक्तियो का गान न किया हो। हालाकि इन दो पक्तियों मे क्या सत्य है वह सिखलाने के लिए उन्होने अपनी जान भी अर्पण कर दी थी। यह सोच कर कि ये लोग इतने रूढिबद्ध है कि ईश्वर-अल्लाह को अब तक भी केवल अपने ही चूल्हे का चौकीदार समझे बैठे है, मेरे दिल पर गहरी चोट लगी। काश! वे सत्य का मुक्त आकाश देख सकते जहाँ ईश्वर और अल्लाह मे कोई भेद नही।

कुछ ऐसे विचारो ने मुझे उदासीनता के अधकार से घेर लिया। उसे दूर करने के लिए मै चुपचाप समाधि के एक कोने मे बैठ कर बापू की आत्मा की ज्योति की एक किरण ढूँढने लगा, मै उनके सिखलाये हुए सत्य का ध्यान करते-करते मग्न हो गया।

जब मैने आँखे खोली तो सूर्य उदय हो चुका था। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि कोमल किरण जो मेरे माथे पर पड रही थी, वे बापू के हाथ की कोमल उङ्गलियाँ थी जो उन्होने कभी मेरे सिर पर आशीर्वाद रूप रखी थी।

मेरे दिल मे अब उदासीनता की बजाय उमग थी, आनन्द था, उत्साह था, क्योंकि मैने सोचा लोग कितना ही सत्य को भूल जाएँ—अपने स्वार्थ के लिए या दलबाजी के नाम पर—वह तो अटल और अमर है और अटल और अमर ही रहेगा। यह मेरी खाम-खयाली न थी, आत्मा का स्वभाविक सत्य मे अगाध विश्वास था, और इसका प्रमाण प्रभु ने मुझे प्रत्यक्ष दिया।

समाधि से उठ कर मै अपने ठिकाने को ओर जाने के लिए तैयार हो रहा था। उसी समय वहाँ एक पठान जो सरहद के पार का बाशिंदा दिखाई पडता था, आ निकला। उसने अपने जूते समाधि के बाहर उतारे और फिर थोडी खामोशी के बाद दुआ पढने लगा—

'या अल्लाह, गाधी मलग की रूह को अमन बख्श। वह तेरा सच्चा खादिम था, वह तेरा एक वल्ली था, क्योकि उसने हम सबको, आदम-जात को, सीधा रास्ता दिखलाया। हम लोग तेरे नाम पर आपस मे लडते-झगड़ते है। उसने हम को बतलाया ईश्वर-अल्लाह एक है और हम सब उसके बच्चे है। आपस मे भाई-भाई है इसलिए हम सब को एक दूसरे के साथ मुहब्बत से रहना चाहिए। या अल्लाह हम को तब अकल बख्श, ताकत दे कि हम गाधी का सबक कभी मत भूले : ईश्वर-अल्लाह तेरे नाम।'

यह दृश्य देख कर मै स्तब्ध रह गया, मेरी आँखो से आँसू बहने लगे। सिर ऊँचा करके मै पठान की तरफ देखने लगा। उसकी आँखों मे भी आँसू थे। मैने अपने मन से पूछा, यह जल कहाँ से आया ? यह जल तो यमुना का नही है, मेरा मन कह उठा, यह तो किसी और ही नदी का जल है जिसका नाम प्रेम-नदी है, जिसके किनारे एक पवित्र प्रयाग

है जहाँ हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, यहूदी, पारसी सब मिल कर रहते हैं।

जैसे मेरे पाँव वही थमे रहेगे और जैसे वह पठान भी अब कहीं नही जाएगा, यह विचार मेरे मन को छू गया। पर यह तो नही हो सकता था। पठान चल पडा, और उसके पीछे-पोछे मेरे पग भी उठ गये।

ठिकाने पर पहुँच कर मीरा के एक भजन की दो पक्तियाँ मेरे मन मे गूँजने लगी—

मीरां के प्रभु गहिर गभीरा,
हृदय रहो जी धीरा,
आधी रात प्रभु दर्शन दीनो,
प्रेम नदी के तीरा!

मेरा मन कह उठा—उस पठान की आँखों मे और तुम्हारी आँखों मे जो जल भर आया था वह इसी प्रेम नदी का जल था, समझे ?

सचमुच उसी समय पठान की दुआ के शब्द मेरे मस्तिष्क के द्वार पर दस्तक देने लगे और मै नतमस्तक होकर 'गाधी मलग' के ध्यान मे खो गया।

जब गांधी जी रोये थे !

पाडवो की, जिनके नायक स्वय कृष्ण भगवान् थे, हार होती हुई दिखाई दे रही थी। इस हार का विचार करके शर-शैया पर पडे हुए भीष्म पितामह रोने लगे। उन्हे रोते देख कर अर्जुन को खयाल हुआ कि शायद पाडवो के भाग्य की ओर से भीष्म पितामह को गहरी मायूसी हुई है और इसीलिए उनके आँसू निकल पडे हैं। किन्तु साथ ही अर्जुन अच्छी तरह जानता था कि भीष्म पितामह कमजोर दिल के आदमी नही है। उनका मन भीतर से यह न मान सकता था कि केवल पाडवो के दुर्भाग्य को सोच कर ही भीष्म पितामह के आँसू निकल पडे हैं। अर्जुन ने वीरवर भीष्म पितामह के पास जाकर उनसे उनके रोने का कारण पूछा। भीष्म ने जवाब दिया कि मै उस हार को सोच कर नही रोया, जिसकी संभावना मेरी आँखो के सामने फिर रही है, बल्कि मै यह देख कर रोया कि ससार के भाग्य-निर्माता कृष्ण एक ऐसी लीला रच रहे हैं, जिसमे विजय ही पराजय का रूप धारण कर रही है, नही तो इस सारे विश्व मे कौन है जो शक्ति मे, और युद्ध-संचालन की योजना मे कृष्ण की बराबरी कर सके। उस दिन पूना से समाचार पत्रो के नाम तार आया कि जिस समय कस्तूर बा के मृत शरीर को अन्तिम संस्कार के लिए सजाया जा रहा था, उस समय कुछ आँसू गान्धी जी के नेत्रो से टपक पडे। किन्तु, क्योकि गान्धी जी को ईश्वर की इच्छा और ईश्वर की बुद्धिमत्ता दोना मे गहरा विश्वास है, इसीलिए उन्होंने तुरन्त ही उन आँसुओं को फिर ऊपर की तरफ लौटाल लिया। न जाने क्यो और कैसे जिस समय मैने इस समाचार को सुना उसी समय मुझे भीष्म पितामह की यह कहानी याद आ गई।

किन्तु गान्धी जी रोये ही क्यो? क्यो? उनका हृदय उस व्यक्ति से

अपनी भौतिक पृथकूता का विचार करके काप उठा जो करीब-करीब साठ साल तक उनकी आकान्ताओ की साथिन रह चुकी थी ? यदि यह बात थी तो उनका सारा जीवन-दर्शन, जिसमे मृत्यु की एक खास महिमा है और जिसके अनुसार मृत्यु ईश्वर की दया का एक लक्षण है, वह सारा दर्शन गान्धी जी की परीक्षा के समय उनके जीवन का पक्का मार्ग दर्शक साबित न हो सका ।

तो क्या वे इसलिए रोये क्योकि भूख की जिस ज्वाला के अन्दर से उनके लाखो देश-भाई निकल रहे हैं, उसकी खबर सुन-सुन कर पिछले अठारह महीने तक जो भाव उनके हृदय मे उमड रहे थे, वे अब फूट पडे ? कुछ भी हो आखिर गान्धी जी मनुष्य है और जो चीज प्रकट नही की जा सकती या सहन नही की जा सकती उसे जल्दी या देर में बाहर निकाल देना ही होगा । इसलिए इसमे सन्देह नहीं आँसू ईश्वर की एक देन हैं । ये आँसू और भी अधिक दिव्य हो जाते है उस समय जब कि वे दुखियो और भूखो की सहानुभूति मे नेत्रो से टपकते हैं ।

मै समझता हूँ कि गान्धी जी किसी दुःख के कारण नही रोये, बल्कि वे दुनिया मे जो कुछ हो रहा है, उस पर आश्चर्य चकित हो कर रोये । इस दुनिया के युद्ध मे सब से पहले घायल होने वाला और मरने वाला सिपाही सत्य है, दूसरा न्याय और तीसरा शान्ति । यहाँ पर आत्म-त्याग की जगह 'सब से जियादा ताकतवर लोगो का जिन्दा रहना' ही शक्ति और विशेषाधिकार की कसौटी है । लोगो की योग्यता यहा उनके धन से पाई जाती है । बैको की यहा मन्दिरो की तरह पूजा की जाती है और मन्दिरो और गिरजो को कुछ रोग के बीमारो की तरह अस्पृश्य समझ कर बिल्कुल अलग छोड़ दिया जाता है । इस दुनिया मे 'सीजर' अपनी बनावटी शान मे सजा हुआ तख्त पर बैठा है । और ईसा मसीह मिट्टी मे अपना सिर छिपाये हुए हैं । हज़रत ईसा को अपने अनुयायियो की उन करतूतो को देख-देख कर लज्जा आती है, जो उनके उपदेशो के ठीक विपरीत हैं ।

गान्धी जी के रोने का यही कारण था। विश्व-व्यापी प्रेम के आदर्श के वे विनम्र भक्त हैं। इस प्रेम ही का नकारात्मक नाम अहिसा है। इस प्रेम के पुजारी होने के नाते गान्धी जी एक पीढ़ी से अधिक तक लोगो को तरह-तरह से यह समझाते रहे हैं कि हिसा के इस तरह के साधनो, जैसे हथियारो का उपयोग, दूसरो का आर्थिक शोषण, झूठ का निर्लज्ज प्रचार इत्यादि से पूरी तरह बचते हुए सब के भले और शाति के पथ पर चलो। किन्तु इस स्वार्थपरता, हिसा और अपनी-अपनी आपाधापी की दुनिया मे उनकी आवाज नक्कारखाने मे तूती की आवाज की तरह रही।

किन्तु क्या गान्धी जी की आवाज व्यर्थ गयी? नही। धर्म का कानून यही है कि पहले केवल एक व्यक्ति उस पर अमल करता है और उसको चलाता है। बहुत दिनो तक वह अकेला ही खडा रहता है। आत्मबल मे उसकी जडे होती है। पास से जाने वाले, दुनिया के साथ उसकी इस खुली 'बगावत' को देख कर, उसका मजाक उडाते है। जिन लोगो के हाथ मे अधिकार होता है, राजसत्ता होती है, वे उस आदमी को दूसरो से अलग कर देते है, ताकि उसके आदर्शवाद का संक्रामक रोग दूसरो को न लग सके। इस तरह उसका अकेलापन पहाड-सा दिखाई देने लगता है। मानव जाति के पैगम्बरो और मार्ग-दर्शको का यही हाल होता रहा है।

किन्तु अन्त मे धर्म का कानून अपना काम शुरू करता है। अज्ञान रूपी रात की अँधियारी मे, दुनिया अपनी रूढियो और अपने अधविश्वासो के किलो और चहारदीवारियो के पीछे सुरक्षित सोती रहती है। उस आदर्श के पुजारी का एक-एक आदर्श धीरे-धीरे किन्तु लगातार शक्ति संचार करता रहता है, ठीक उसी तरह जिस तरह पहाड से ढुलकते हुए बरफ के गोले का वेग बराबर बढता रहता है। फिर एक दिन अचानक दुनिया को पता चलता है कि उसके घर की छत मे एक सूराख पैदा हो गया है, जिसके रास्ते सुबह की रोशनी की किरणें पहले की अपेक्षा कहीं ज्यादा जल्दी उसके सोने के कमरे तक पहुँच जाती है।

मुमकिन है कि आज गान्धी जी की आवाज इस सूखी हुई पृथ्वी के पार न जा सके। किन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि उस आवाज मे वह शक्ति छिपी हुई है, जो एक बार स्वर्ग को भी बाँध डालेगी। तब स्वर्ग से उस ईश्वरीय अनुकम्पा की वर्षा होगी, जो उन दिलो को भी पिघला देगी जिन्हे सत्ता ने और ऐश्वर्य की लालसा ने इस समय पत्थर बना दिया है। जिस सुनहरी बुत की दुनिया की कौमे इस समय पूजा कर रही हैं, ईश्वरीय दया की वर्षा उस बुत को उसकी जगह से उखाड़ कर फेंक देगी और दुनिया को दिखा देगी कि इस बुत के पैर केवल मिट्टी के हैं।

गान्धी जी के दिल की आवाज उनके आँसुओ मे बन्द और सग्रहीत थी। कहा जाता है कि किसी हब्शी गुलाम को उसके मालिक ने कोड़ो से खूब पीटा। गुलाम जब और अधिक मार न सह सका तो फूट-फूट कर गाने लगा। उसके गाने मे गहरी करुणा थी। उसमे वह पीडा थी जो मनुष्य की अन्तरात्मा को हिला देने वाली थी। ठीक उसी तरह की पीडा आज गान्धी जी के शब्दो और उनके आँसुओ मे है। उस हब्शी गुलाम के गीत मे बार-बार यह टेक आती थी—

मै शिकायत नही करूँगा। मैं शिकायत नहीं करूँगा।
किन्तु मैं ईश्वर के पास जाऊँगा। मै ईश्वर के पास जाऊँगा।
और मैं उससे सब कुछ कहूँगा।

गुरुदेव

सूर्य अस्त हो चुका था और मै अपनी सैर से वापस कुटिया को आ रहा था कि यकायक मेरे मन मे यह ख्याल आया कि 'उत्तरायण' की तरफ से होता चलूँ। यदि गुरुदेव बरामदे मे बैठे होगे, तो दर्शन हो जायेंगे। यद्यपि ऐसा होना सम्भव नही था, क्योकि इधर कई दिनो से उनकी हालत अच्छी न थी और कोई उनसे इसीलिए मिलने न जाता था। जब मै 'उत्तरायण' के पास पहुँचा, तो काफी अँधेरा हो चुका था। आगे बढते-बढते जब बरामदे के नजदीक पहुँचा, तब कोई बैठा है ऐसा लगा। बरामदे पर चढते-चढने मालूम हो गया कि गुरुदेव बैठे हुए है। गुरुदेव एक आराम कुर्सी पर आँखे बन्द किये हुए ध्यान मे बैठे थे। मै चुपचाप उनके चरणो के पास बैठ गया। कुछ देर बाद उन्होने आँखे खोली; मैने उन्हे प्रणाम किया। उन्होने आशीर्वाद दिया और चुप बैठे रहे। कुछ देर यो ही बीत जाने पर उन्होने अपना मस्तक ऊँचा किया और दाहिने हाथ से आकाश के चमकते हुए तारो की तरफ इशारा करके कहा "मुझे यह तारात्रो से भरा-पूरा अधकार बहुत अच्छा लगता है। जब दुनिया के झगडे-रगडे मिट जायेंगे, तब भी इन ताराओ की सत्य-साक्ष्य हमेशा की तरह वैसी रहेगी जैसी कि हजारो वर्ष से रहती आई है। वे तो हमेशा शात, शिवं, अद्वैत का गीत गाते रहते है।"

यह कहकर वे शात हो गये। मै प्रणाम करके उनके पास से उठ अपनी कुटी की ओर चला। चलते-चलते मुझे उस दिन से २१ वर्ष पहले की एक स्मृति याद आ गयी, जबकि पहली बार मै शातिनिकेतन में आया था जिस दिन मैने पहले-पहल गुरुदेव के दर्शन किये थे, वह दिन तो जीवन के कलेण्डर मे लाल स्याही से अंकित है, क्योकि जिस व्यक्ति को मैने कई वर्ष तक केवल कवि के रूप मे उसकी कविताओ के द्वारा

इस दीक्षा के मन्त्र को जब मै शब्दबद्ध करने की चेष्टा करता हूँ, तो मुझे उनकी 'गीताञ्जलि' मे से तीन वाक्य याद आ जाते है, जो मेरे विचार से उस मन्त्र की सबसे अच्छी टीका है। यही तीन वाक्य सदा मेरे सामने लगे रहते है। मेरी मिट्टी की कुटिया की दीवारो पर भी यही लिखा है।

"जब कोई, हे प्रभु! तुझे पहचान लेता है, तब फिर उसके लिये कोई पराया नही रह जाता।"

"मेरे जीवन का सिर्फ इतना ही अश बाकी रहे, जिससे हे प्रभु! मै तुझको अपना सर्वस्व कह कर जानूँ।"

"हे जीवन-देवता, क्या प्रतिदिन मै तेरे सम्मुख खडा रह सकूँगा।"

इन तीन वाक्यो मे जो सत्य है, वह गुरुदेव की कई किताबो मे विस्तृत रूप मे पाया जाता है। एक दृष्टि से देखा जाय, तो गुरुदेव के साहित्य का मूल मन्त्र यही है, जो सत्य या पदार्थ सीमाबद्ध है, उसका सम्बन्ध असीम के साथ बॉधा जाय और जो सत्य या पदार्थ असीम की ओर उन्मुख है, उसे सीमाबद्ध किया जाय। इसीसे उन्होने एक कविता मे कहा है कि ईश्वर और सत्य का एक रूप नीड और दूसरा रूप आकाश। नीड़ का सम्बन्ध आकाश के साथ उसके द्वार के कारण बॉधा गया है, और मुक्त विस्तृत आकाश अपने आपको नीड के दरवाजे के सामने परिमित कर देता है 'डाक घर' का रुग्ण अमल कमरे मे बन्द है, वह अपना सबध बाहर के जगत् से कमरे की एक खिडकी के द्वारा जोडता है।

इस सीमा और असीम के बीच मे पुल बॉधने का काम कवियो और कलाकारो का है। कवि और कलाकार तो मरमी होते हैं। और वे जो मरमी होते हैं, जमीन और आसमान मे 'Jacob's ladder' यानी स्वर्ग-नसैनी लटकती हुई देखते है। बाइबिल के मरमी जेकब ने अपने एक आध्यात्मिक अनुभव मे ऐसा ही देखा था। अपने अनुभव का जिक्र करते हुए वे कहते है कि इस सीढी पर आसमान से जमीन का

तरफ ईश्वर के दूत ऊपर से नीचे आते हैं, और प्रभु के प्यारे पृथ्वी से आकाश की तरफ चरण चूमने जाते है।

मई महीने की पॉचवी तारीख को गुरुदेव के इस जीवन के अस्सी वर्ष पूरे हो रहे है। मै उनको प्रेम पूर्वक नम्र हृदय से प्रणाम करता हूॅ। और अपने दिल की भावनाओ को इस टूटे-फूटे गीत के रूप मे प्रकट करता हूॅ।

— गुरुदेव, मेरे प्यारे, दिल म सरूर तेरा।
तेरे वे कमल नयन—शान्ति भरे सरोवर,
मै डूब के हूँ पाता उनमे वो प्रेम तेरा।
ऊॅची पेशानी तेरी कैसी वो शान वाली,
उसे देख याद आता आश्रम मुझे है तेरा।
कुछ बात है कि मुझको रहती है याद तेरी,
तेरी जिन्दगी का नूर हो राहे-चिराग मेरा।

स्वतंत्रता के अग्रदूत : रवीन्द्रनाथ

विश्व-बन्धुत्व के उपासक रवीन्द्रनाथ—जिनके भौतिक अवसान की प्रथम पुण्यतिथि अगस्त की सातवी तारीख (१९४२) को पड रही है—अपने जीवन्त विश्वास की सचाई के कारण स्वाधीनता के अग्रदूत थे। स्वतत्रता को वे सपूर्ण भाव से स्वीकार किये हुए थे, उनके मन-प्राण मनुष्य के पूर्णवयव व्यक्तित्व की खुशबू से सुरभित हो उठे थे। एक बार सन् १९३३ मे आध्र विश्वविद्यालय के एक 'एकसटेशन लेक्चर' का उपसहार करते हुए उन्होने कहा था :

> **मनुष्य जीवन का एक मात्र उद्देश्य**
> **मुक्त करना और मुक्त होना है उस**
> **मुक्ति को प्राप्त करना जिससे वरेण्य**
> **जीवन का पथ आलोकित होता है।**

किंतु उन्होने अनुभव किया कि उनकी अपनी जन्मभूमि स्वतत्र और मुक्त नही है और जिन देशो को स्वातन्त्र्य तथा मुक्ति का उपभोग सहज है वे उसे जीवन की सेवा और एकता मे नियोजित नही कर रहे है। इसी से क्षण भर चुप रह कर उन्होने तीक्ष्ण प्रश्न किया—कौन है जो विश्राम पाना चाहता है, जो आराम की खोज मे है और उसे विश्राम मिलेगा ही क्योकर ?

आज स्वतन्त्रता के व्यापक युद्ध और सघर्ष के दिनो मे हम भारत-वासियो के लिए ऊपर के सदेश से बढ़कर और कौन-सा महान् सदेश हो सकता है ? अपनी इस, पुरानी विराम-प्रिय आलस्य की कठिन शृखला को आज छिन्न-भिन्न कर देने का दुर्लभ क्षण क्या हमारे जीवन मे नही आ गया है ? क्या यह मनुष्य का निर्माण करने वाली मुक्ति की ध्रुव-तारिका के निर्देश पर बढे चलने की बेला नही ? 'मनुष्य का निर्माण'—

कारण, बस निविड परतन्त्रता के अधम वातावरण मे रहनेवाला व्यक्ति आज एक आत्मशून्य, यान्त्रिक पुतला ही तो है, भगवान् की दी हुई स्वतन्त्रता से उज्ज्वल और महिमान्वित मनुष्य कहाँ है ?

कवि का निजी जीवन अपने आप मे उन सब बाधाओं के खिलाफ कठिन और अशेष युद्ध की एक सजीव कहानी है, जो बाधाएँ मनुष्य के गौरव और गति को पग-पग पर, अवरुद्ध कर रखती है। स्कूल-मास्टर अपने विदेशी स्वामियों को प्रसन्न करने के लिए शिशु के मन को किसी जड साम्प्रदायिकता के बन्धन मे बाँध रहा था। रवीन्द्रनाथ ने उसके खिलाफ मानो धर्म-युद्ध आरम्भ कर दिया। शातिनिकेतन मे उन्होने शिक्षा का केन्द्र स्थापित किया, जहाँ तरुणो को अबाध मानसिक और अध्यात्मिक विकास के लिये अनुकूल आबहवा मिल सके। धनोन्मत्त व्यवसायी 'सुन्दर' के ऊपर अपने व्यापार की जडता की छाप बिठा रहा था। जो नित्यकाल का आनन्द वहन करता है, उसे ही वह लाभ से प्रत्याशित होकर बाजार की अपवित्रता का वाहन बनाये दे रहा था। रवीन्द्रनाथ ने वर्तमान सभ्यता की इस दुर्निवार प्रवृत्ति का विरोध किया और शिल्पियो के लिए एक ऐसा मुक्त स्थान दिया जहाँ लाभालाभ की धारणाएँ प्रवेश ही न कर सके। मानव हृदय-मन्दिर पर आसीन भागवत सत्ता को धर्म का बाह्य आडम्बर अपमानित कर रहा था। रवीन्द्रनाथ ने उस महान सदेश को उदात्त स्वर से घोपित किया जिसके द्वारा मनुष्य अपने गौरव को समझ सके—अपनी शाश्वत पवित्रता का अनुभव कर सके। हमारा जीवन और साहित्य दोनो पश्चिम का अंध और हास्यकर अनुकरण कर रहे थे। रवीन्द्रनाथ उठ खडे हुए अपनी निजस्व सचाई और सादगी लेकर, जिसमे वाणी का वरदान आ मिला। राष्ट्रीयता ने मनुष्य-मनुष्य के अन्तर की सहज प्रेमधारा को रोक रखा था। रवीन्द्रनाथ ने दिखाया कि पूर्व और पश्चिम—दोनो के हृदय मे एक ही प्राणो की धडकन बजा करती है—दोनो उस प्रकाश के लोकतन्त्र मे रह रहे हैं जहाँ द्वैत का अधकार नही है।

कवि होने के कारण रवीन्द्रनाथ के प्राण छन्दोमय थे, वे इस ब्रह्माण्ड के छन्द को सर्वत्र सुन पाते थे। आकाश की सुदूरस्थ तारिका का प्रकाश किस तरह घास के अन्तराल में छिपे जुगनू के भीतर प्रतिफलित हो रहा है, पथ के किनारे का उपेक्षित फूल और मनुष्य का विकासोन्मुख जीवन किस तरह एक ही छन्द में गुँथे है, इसे वे अनुभव कर पाते थे। उस छन्द को जो भग करता था उसकी वेदना उनके मर्म मे आ लगती थी। स्वतन्त्रता तथा मुक्ति—के भीतर ही छन्द का सारा रहस्य निहित है। पाँवों मे वेडियाँ जकड़कर कोई नही नाचता, नृत्य का अर्थ ही आजादी है। इसलिए मनुष्य अपनी दैवी सत्ता का प्रकाश तब तक नही कर सकता जब तक वह दासता के मलिन वस्त्रों से अपने को ढाँके हुए है—फिर वह दासता राजनैतिक हो, सामाजिक हो, आर्थिक हो, नैतिक हो, अथवा आध्यात्मिक!

इसीलिए आज मानवीय महिमा के अन्वेषक और प्रचारक उन रवीन्द्रनाथ को हम अपने भक्ति-पूर्ण प्रणाम अर्पित करें, जिन्होने उस महिमा का भागवत-स्वरूप हमारे निकट उद्भासित किया।

गुरुदेव के 'गुरु'

आध्यात्मिक क्षेत्र मे गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के 'गुरु' कौन थे ?—इस प्रश्न ने बहुत-से जिज्ञासुओ की चिता को आलोडित किया है। जब पहले-पहला 'गीताञ्जलि' का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ तब थियॉसफिस्ट सम्प्रदाय ने समझा कि हिमालय की गुहाओ मे रहने वाले तथा कथित ऋषि-मुनियो की ओर ही रवीन्द्रनाथ ने 'माइ मास्टर' कहकर इशारा किया है। ईसाइयो ने सोचा कि इन गीतो मे बाइबिल की बरबस याद दिलाने वाली रहस्यमयी तीव्र दृष्टि और गहन अनुभूति की पुनीत व्यजना के भीतर से बराबर प्रभु यीशु को ही पुकारा गया है। किन्तु रवीन्द्र-साहित्य का हर विद्यार्थी जानता है कि ऐसी कोई धारणा बनाने का कारण वस्तुतः इस साहित्य मे नही है। 'प्रभु' का अर्थ कवि की चेतना मे भगवान् के आत्मीय स्वरूप से ही रहा है, और उन्ही को अन्यत्र उन्होने 'जीवन-देवता' कहकर भी सबोधित किया है।

तथापि एक दिन एक सिंधी बालिका ने शातिनिकेतन मे उनसे अचानक पूछा था : 'आपके गुरु कौन है ?' कवि ने तत्काल उत्तर दिया . 'बुद्धदेव।' उत्तर महत्वपूर्ण है, कारण, यह मत बार-बार प्रकाशित किया गया है कि रवीन्द्रनाथ की अनवरत चिन्तना केवल उपनिषदो की विचार-धारा से प्रभावित हुई थी। बात सच भी है। किन्तु यह भी एक दम सभव है कि कवि के निकट परमात्मा केवल व्यक्तिगत प्रभु ही नही, अनंत स्वरूप भी रहे हो, 'तत्' हो गए हो, जो प्रेमघन थे वे परम धर्म-स्वरूप बन गए हो। क्या यह अनत और असीम भाव कवि के आध्यात्मिक विकास का परवर्ती स्वरूप था ? आत्मा की तीर्थयात्रा मे कवि शुरू के दिनो मे इतने अधिक स्पष्ट रूप से अनतचारी नही थे। हाँ, यदि हम उनकी तरुणाई के समय की 'एकमेवाद्वितीयम' की प्रारम्भिक आतरिक अनुभूति की बात सोचे' तो कदाचित् किसी दूसरे परिणाम पर पहुँचेगे।

सच तो यह है कि यद्यपि कवि ने 'नाना मानसिक उपलब्धियो के भीतर से नाना 'गीत' गये थे, फिर भी उन गीतो का चरम संकेत 'उन्ही'

की ओट था। इन सकेतो के लक्ष्य कभी तो परम व्यक्तिगत देवता थे, कभी तत् और कभी धर्मस्वरूप महान् सत्।

इन पंक्तियो के लेखक ने उनके अतिम दिनो की रचनाओ को पढकर बराबर यही अनुभव किया है कि शाश्वत सत्ता की निर्वैयक्तिक अनुभूति इन दिनो सबसे अधिक प्रगाढ थी। सभव है यह अनुभूति उपनिषदो के उन दो प्रधान विचारो से प्रभावित रही हो जिनमे 'जीवन के सत् धर्म' की अलग-अलग उपलब्धियो का उल्लेख है। क्या यह इसलिए था कि उन्होने इसी बीच बौद्ध-चिन्ताधारा का विशेष अनुशीलन किया था? अथवा, क्या यह आधुनिक विज्ञान के सतत अध्ययन का दूरवर्ती परिणाम था? क्या बुद्धदेव के समान उन्होने भी अपने अंतिम दिनो मे यह बोध कुछ अधिक गहन भाव से किया था कि वाणी के अशेप वैभव और विलास के द्वारा भी अतर मे जिसका साक्षात्कार किया गया है, उसे व्यक्त करते समय केवल मौन का ही स्वरूप व्यक्त होता है, इसलिये उसे 'तत्त्वमसि' कहना ही उचित होगा? इस सिलसिले मे एक छोटी-सी बात की चर्चा कर लेना अप्रासंगिक नही होगा। एडमण्ड् होम्स की पुस्तक 'क्रीड ऑव दी बुद्ध' (बुद्ध का धर्म) कवि के अत्यन्त प्रिय ग्रन्थो मे से एक थी जिसे वे अक्सर ही पढा करते थे जो घटना कुछ अनोखी-सी है। किन्तु यह भी बहुत सभव है कि जब उन्होने उस सिंधी लडकी को उक्त जवाब दिया था तब इस पुस्तक की भाव धारा मे उन्होने सद्य अवगाहन किया था। और यह भी कौन नही कह सकता कि बुद्ध से उनका अर्थ उस चिरप्रबुद्ध से था जो सदा 'जनाना हृदये सन्निविष्टः' है? वह जो अवसर पर सिद्धार्थ से बुद्ध बन जाते हैं। दूसरे शब्दो मे, 'बुद्ध' का अर्थ उनके निकट 'परम धर्म' के व्यक्तिगत प्राणमय स्वरूप से भी हो सकता है। ऐसी व्यक्तिगत उपलब्धि केवल उसी के लिए सभव है जिसने शाश्वत सत्य को प्रेम और त्याग, सेवा और समर्पण के द्वारा अपना निकटवर्ती आत्मीय बना लिया है। यही ठीक भी मालूम होता है, कारण गाधी जी शब्दो मे 'धर्म और धर्म के नियता' दोनो मे भेद ही कहाँ है?

गायक रवीन्द्रनाथ

नीरवता आत्म की वाणी है; संगीत अन्तः पुरुष की झंकार है। यही नही, वह परम-पुरुष के साथ साक्षात्कार करने का सब से सरल और उत्कृष्ट माध्यम है। यही कारण है कि सब से आदिम और सब से प्रवीण साधको ने समान रूप से सगीत के माध्यम को अपनाया। मौन के समान सगीत भी उस प्रशस्त वातायन जैसा होता है जिससे हम प्रेम, आनद और ज्ञान के सीमाहीन समुद्र की ओर झाँक लिया करते है।

इसीलिए गायक रवीन्द्रनाथ का समादर भारतवर्ष की ग्राम्य कुटीर से लेकर पडितो की मंडली नक एक जैसा है। उनके गानो में 'नावक के तीर' का चोखापन है जो भाव को सीधे हृदय मे प्रवेश करा देता है, यद्यपि गीतो की विपय वस्तु उपनिपदो के रहस्यमय सत्य है। उपनिपदो के मत्रो मे जो रहस्यात्मक ऊँचा आरोहण है वह साधना मे दीक्षित साधको के ही आयत्त की चीज़ है। किन्तु कवि के गानो ने ऐसे स्निग्ध प्रकाश को चारो ओर फैलाया है जिससे धरती और आकाश दोनो ही उज्ज्वल होते हैं। इस स्वर की प्राणमयी धारा से जो चाहे अपना कलश भर कर ले जा सकता है।

पूर्व और पश्चिम मे—विशेष कर पूर्व के मर्म भारतवर्ष मे—साधारण जनता की यह गहरी इच्छा रही है कि वह रवीन्द्रनाथ के गीतो को उनके मूल स्वरो मे सुन सकती। अभी तक वे उन गीतो के अर्थ तक ही पहुँच स के थे जिसका सबसे सफल वादन स्वर था, किन्तु भापा की मोहकता से परिचित न होने के कारण वे उसके मर्म तक नहीं पहुँच सके। भारतीय-सगीत का आधार स्वर का माधुर्य होने से उन्होने उसका आस्वाद तो लिया, किन्तु भाषा के जादू को न पकड सके।

अभी हाल ही मे उनकी यह आकाक्षा भली भाँति पूरी हुई है।

काशी के सगीतज्ञ—एक फ्रेंच सज्जन—श्री ए० दानियेल् पिछले बहुत वर्षो से भारतीय संगीत की साधना कर रहे है। उन्होने रवीन्द्रनाथ के कुछ चुने हुए गीतो को मूल रूप मे रोमन और नागरी लिपियो मे बाँधा है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होने स्वरलिपि की एक नई अथवा सशोधित पद्धति भी निकाली है और हारमोनियम का सस्कार करके एक उपयुक्त यंत्र भी तैयार किया है। इस यत्र ने हारमोनियम जैसे 'अस्पृश्य' समझे जाने वाले यत्र का आधार ही बदल दिया है। श्रुतियो की भित्ति पर बजने वाला यह यत्र अब 'हरिजन' न हो कर 'ब्राह्मण' बन गया है, और वीणा की मर्यादा लेकर सरस्वती के मदिर मे प्रवेशाधिकार पा गया है।

इस क्षेत्र मे पहले भी कुछ काम हुआ था। कहा जाता है कि 'गीताजलि' के प्रकाशित होने के बाद कलकत्ते के एक मशहूर गिरजे मे कोई पादरी रविवार की प्रार्थना के समय रवीन्द्रनाथ के कुछ गीतो को पश्चिमी स्वरशैली पर प्रायः ही गवाया करते थे। ऐसे ही कुछ 'स्वरात्मक अनुवाद' यूरोप और अमेरिका मे भी गाये गए थे। फिर एक डच सगीताचार्य ने बॅगला गीतो की पश्चिमी पद्धति पर स्वरलिपियाँ भी बनाई थी। इन स्वरलिपियो मे भी पूर्ववर्ती लिपियो की तरह स्वर पश्चिमी शैली मे बाँधे गए थे। इसीलिए मोशिए दानियेल् का कृतित्व इस बात में है कि उन्होने मूल बॅगला गीतो के मूल स्वरो को ही—मूल शब्दो के साथ—नागरी एव रोमन स्वरलिपियो मे अंकित किया है। साथ ही उनके हिन्दी और अग्रेजी काव्यगत रूप भी दिये हैं। स्वरलिपियो की पद्धति एक है। जो यत्र इन स्वरों को झकृत करता है इसमे इतनी सूक्ष्मता है कि स्वर की बारीक-से बारीक और कठिन-से कठिन मीड-मुरकी-मूर्च्छना भी बनाई जा सके तथा जिसकी स्वर-लहरी मे वीणा की उदात्त, मन्द्र मर्यादा भी हो। यह इतनी सफलता के साथ किया गया है कि सयुक्तराष्ट्र अमेरिका के प्रसिद्ध गायक श्री पॉल रॉब्सन ने हजारो श्रोताओ के समक्ष मोशिए दानियेल् की स्वरलिपियो से चुनकर दो विशेष गीतो को गा कर जनता को मुग्ध कर दिया था।

सभव है अपरिचित कानो को रवीन्द्रनाथ के स्वर कुछ अनोखे से सुनाई पडे। किन्तु तनिक से अभ्यास और संस्कार के बाद वे कवि के स्वर और वाणी के मर्म को सहज ही हृदयगम कर सकेंगे। इनका आधार भारतीय-शास्त्रीय सगीत है। क्रमशः श्रोता उस भारतीय-आत्मा के साथ भी साक्षात्कार कर सकेंगे जो इन स्वरो मे बोल रही है। पश्चिमी कलाविद् शुरू-शुरू मे भारतीय शिल्प को भी सही नजरो से नही देख पाते थे। धीरे-धीरे उनकी दृष्टि भारतीय शिल्प की महानता को समझने लगी। आर्यावर्त्त का उदार शिल्पभण्डार उनके आगे खुल गया। सगीत के क्षेत्रो मे भी ऐसा ही होगा।

मोशिए दानियेल् ने उस विशाल सेतु के एक और भी स्तभ को सबल बनाया है जो पूर्व और पश्चिम के दुर्लघ्य व्यवधान को भरने की कोशिश कर रहा है। ऐसे ही प्रयत्नो से क्रमशः दोनो महादेशो की सस्कृतियाँ एक दूसरे के निकट आकर मानव-मैत्री के सूत्र और मानवज्ञान के प्रकाश मे बधुत्व स्थापित कर सकेंगी। ससार को आज इसी की बडी आवश्यकता है।

रवीन्द्रनाथ के साथ एकतान

अभी उस दिन की बात है। शान्तिनिकेतन की शालवीथिका के तरुण पल्लवों को जब रवीन्द्रनाथ की वासन्ती आत्मा ने चंचल कर दिया था, मैंने अपने हृदय यन्त्र की घुण्डी खोल दी और चाहा कि उस आत्मा के सन्देश को पा सकूँ। जाने क्यो मुझे ऐसा लग रहा था, मानो नवीन फूल-पत्तो की ताजगी के मौसम के साथ जब हम नृत्य और गीत द्वारा अपने चित्त का स्वागत सँजो रहे थे, वे हमारे बीच आ गये हो। सो भोर के पछी ने मीनार के मुअज्जिन की तरह जब दुनिया को कर्म और उपासना के इस जगत् मे जागने के लिए पुकारा, तभी मैंने अपनो इस नजर की मूर्त्ति के निकट अपने उत्सुक कान लगा दिये और भीतर-ही-भीतर जैसे उसी उदात्त वाणी का स्वर सुना :—

"यही पुण्यस्थल है, जहाँ मेरे श्रद्धेय पिता जी निविड भाव से भगवान् का स्पर्श पा सके थे—जाग उठे थे। उनकी यह पुनीत आज्ञा थी कि जो यहाँ आये, वह इसी जाग्रत चैतन्य के भीतर रहने की चेष्टा करे। जिस सत्य को उन्होंने राजा राममोहन राय के निकट पाया था और जिसके दीपक द्वारा ब्राह्म-समाज को आलोकित कर रखा था, उसे वे मानो मेरे हाथो सौप गये थे। उन्होंने मुझसे कहा—'देखना, प्रकाश कभी धुँधला न होने पाये।'

मेरे पिता और गुरु ने ऐसी ही दोहरी सम्पत्ति का दायित्व मुझे सौपा था। मैंने उसे सर्वान्तःकरण से स्वीकार किया था और शिरोधार्य करते हुए मन-ही-मन निश्चय किया था कि अपनी शक्ति-भर इसके लिए कुछ भी उठा न रखूँगा। किन्तु चिर-नवीन-चिरतन ने उस पथ का मुँह कही मोड दिया, जिस पर मै जा खड़ा हुआ था, और मैंने अपना आसन व्यास-गादी पर न पा कर इन्ही शाल-वृक्षो की छाया मे बिखरा पाया।

और मानो उस परम वाणी ने मेरे कानो-कान कहा—'यह बंसी लो, जो तुम्हारे खेल की साथिन होगी और जिसके सुर से तुम गम्भीर और विचित्र संगीत की धारा बहा सकोगे।'

जब वसन्त को बहार ने सुदूर की खुशबू से मन-प्राण भर दिये, तब मैंने बाँसुरी का सुर साधा, जब वर्षा-सुन्दरी पाँवो मे रिमझिम-नूपुर पहन कर धरती की नृत्यस्थली पर थिरक उठी, तब मैंने बाँसुरी की तान छेड़ी। बच्चो ने मेरा गीत सुना और आ कर मुझे इस तरह घेर लिया, जैसे मै स्वर्ग का जादूगर-गायक होऊँ। उन्होने बसो के गीत सुनने चाहे और मैंने तान छेड दी; क्योकि मै जानता था, उनकी माँग प्राणो की माँग है, जीवन का आह्वान है। किन्तु तब भी सुरो के पीछे मुझे सदा इस बात का बोध रहा कि यह बाँसुरी मेरे जीवन-देवता का ही दान है और इस सगीत के भी वही स्वामी है।

कौन जाने, शायद मेरे प्रभु को मेरा सुर पसन्द आ गया, गान भा गया, तभी तो उन्होने अपने आदेश द्वारा मुझे सम्मानित किया कि मै शान्तिनिकेतन से दूर इस फैले हुए विश्व मे विशाल मानव-समाज के जादूगर-गायक की तरह भटकता फिरूँ।

तब मै चल निकला और घूमा-फिरा—पूरब और पच्छिम। मानव-सन्तान ने मेरा गान सुना और शान्ति के सुरभित पथ पर वे मेरे पीछे-पीछे चल पड़े—सामने एक मे निवास करने वाले अनेक तथा अनेक के निवासी एक के असीम पारावार की तट रेखा पर। उन्हे ऐसा लगा, मानो जादू की खिडकियाँ खुल गई हो।

किन्तु तत्काल ही एक भयकर तूफान घुमड आया और उसके झपट्टे मे जादू की खिड़कियाँ बन्द हो गई, रोशनी बुत गई। सब जगह 'ब्लैक-आउट' हो गया और उस सघन अँधियारे ने मनुज-सन्तान के दीप्त मुखो को ढँक लिया, उनके हर्ष मे स्फीत स्वर को उदास श्मशान की साँय-साँय मे डुबा दिया। किन्तु सौभाग्य की बात इतनी ही है कि उदार स्वर्ग के आँगन मे 'ब्लैक-आउट' नही होता सारे आकाश को छापकर लाख लाख

तारो के दीपक टिमटिमा उठते है, जो नीचे धरती के निवासी मनुज की सन्तानो के ढँके-मुँदे प्रकाश को खुश होने का सन्देसा देते हैं, क्योकि प्रभात आ पहुँचता है; सत्य के द्रष्टा अपने आलोक-रथ पर आसीन हो कर आ जाते हैं।

युग-युग के उसी अतिथि के लिए आज शान्तिनिकेतन अपने मगल थाल मे पूजा के पुष्प और चन्दन-अक्षत ले कर प्रस्तुत हो जाये, अपना उदात्त शख सँभाले। ऐसा न हो कि नादान किशोरी की तरह वह सोया रह जाये और चिरकाल का दूल्हा उसके दरवाजे से फिर जाये।..."

इसी समय आसमान के एक हवाई-जहाज की अलस आवाज़ ने बाधा दी और मेरा रेडियो सहसा बन्द हो गया। फिर उसने काम करने से साफ़ इन्कार कर दिया।

रवीन्द्रनाथ के चित्र

पश्चिम से आया हुआ कोई अतिथि शान्तिनिकेतन मे रवीन्द्रनाथ के पुत्र के सुन्दर और सुरुचि-सज्जित कमरे की दीवारो पर जड़ी हुई तस्वीरें देख रहा था। तस्वीरे सभी गुरुदेव की आँकी हुई थी। जैसा कि स्वाभाविक था, अतिथि ने उनके विषय, शैली और अकन-प्रणाली के बारे मे प्रश्न पूछे। 'केवल एक क्रीडा और कौतुक' ('A mere pastime and a phantasy') गुरुदेव ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया'...किन्तु इन डेढ़ हजार से भी ऊपर सख्यक चित्रो की ओर दृष्टि दौडानेवाले के मन मे सहज ही यह सवाल उठता है—क्या यह सब-कुछ महज क्रीड़ा और ख्रामखयाली ही है? रगो की यह दुनिया क्या केवल तमाशा ही होगी?

लेकिन एक तरफ से शायद कवि-शिल्पी का यह उत्तर एकबारगी सही है। शिल्प की सम्पूर्ण सृष्टि पर मानो मनुष्य की आत्मा का आनन्द क्रीडा-कौतुक की छाप लगा देता है। कवि शेली का अमर पछी जिस तरह कौतुक के आवेश मे अवश गान गा उठता है, आकाश के सुदूर कोने से जिस तरह 'स्वतः उच्छ्वसित सगीत' अपने को धरा पर ढाल देता है, खेल की वही मस्ती और खुशी का वही तराना शिल्प-रचना का सबसे सही परिचय है। वही चिरकाल की कहानी है, जिसमे शाश्वत शिशु-सृजन की अदम्य प्रेरणा पाकर फैली हुई रेत पर बालू के घरौदे बनाता है, गढता है और मिटाता है। अगर कोई उससे पूछे कि यह सब क्यो है, तो बालक के पास उसका एक ही छोटा और पूरा जवाब है—'मुझे अच्छा लगता है।'

किन्तु इसी का और भी एक पहलू है। और इस छोटे-से निबन्ध मे इसी दूसरे पहलू से रवीन्द्रनाथ के चित्रो के मूल अर्थ तथा विषय तक पहुँचने की चेष्टा की गई है। अपने जीवन के उत्तरार्द्ध के शुरू मे

रवीन्द्रनाथ के मन मे एक प्रकार की क्लान्ति सचारित हो गई थी; कविता-देवी की उपासना के भीतर—अर्द्धरात्रि मे चुपके से घुस आने वाले चोर की भाँति—एक अजब थकान आ बैठी थी। सम्भव है, इसका कारण उस कुण्ठा के भीतर छिपा हुआ हो, जिसे रवीन्द्रनाथ तब कभी-कभी अनुभव किया करते थे, जब वे जीवन के प्रधान कर्मक्षेत्रो मे अपने अन्तर के आदर्शवाद को रूप देने मे बाधा पाते थे। तब उनकी आत्मा एक प्रकार के सकोच का अनुभव करके जैसे हाँफ उठती थी, वे विश्राम चाहते थे।

और सबसे बडा विश्राम मनुष्य तब पाता है, जब वह दैनन्दिन जीवन के प्रधान और अभ्यस्त कामो मे एक परिवर्त्तन ला पाता है, जैसे नदी अपनी परिचित धारा का पथ छोडकर यहाँ-वहाँ मुड जाती है, जिससे उसकी आजादी ताजगी और ताकत बनी रहे, वह बन्धन मे उलझी न रह जाय।

और सिर्फ इतना ही क्यो, प्रस्तुत और व्यतीत जीवन मे सचित अनुभव तथा चिन्ता की राशि-राशि किस तरह 'मुक्ति' पाएगी, यदि वह केवल एक ही रास्ते बाहर होती रहे? इसीलिए भीतर से जब वे चेतना के द्वार पर आकर बार बार कुण्डी खटखटाने लगी, तब बिना द्वार खोल कर उनका स्वागत किये कवि का कोमल और अतिथि-वत्सल चित्त रह ही कैसे सकता था?

इस दृष्टि से यदि हम रवीन्द्रनाथ की सृजन-चेष्टा पर विचार करें, तो उसके विपुल वैचित्र्य का रहस्य ठीक समझ में आ जायगा। भीतर की उपचित गति को बहने के लिए रास्ता देने के लिए ही रवीन्द्रनाथ ने साहित्य, सगीत, शिक्षा और ग्रामोन्नयन के क्षेत्र मे असंख्य प्रयोग किये थे। उनके भीतर की अधीर व्याकुलता इसी तरह प्रकाश पाना चाहती थी। उन्होने स्वय ही गाया है—'मै चचल हूँ, मै सुदूर का यात्री हूँ।'

किसी कवि ने कहा है—'स्नेह मे डूबी हुई याद मुझे आस-पास से

घेर कर रखने वाले अन्य दिनों का प्रकाश ला देती है।' 'अन्य दिनो के प्रकाश' का रहस्य अनायास ही हमारी समझ मे आ जाता है, जब हम रवीन्द्रनाथ के चित्रो पर एक नजर दौडाते है। यह देखिए, एक व्यक्ति की भीषण आकृति है जो एक और व्यक्ति की छाती मे छुरा भोक रहा है। वह देखिए, किसी की आँखो से गुस्से की आग बरस रही है। यहाँ एक सुकुमार मुख है, जिसकी मृदुल शोभा मे मातृत्व का सारा दुलार जैसे सघन होकर बरसने आया है, और फिर दूसरी तरफ मनुष्य-भोजी की प्रकाण्ड-निर्मम मुद्रा हमारे मन को क्षोभ और जुगुप्सा से भरपूर किये दे रही है। यहाँ देखिए, एक दृश्य है, जिसके पहाड़-पर्वत, नदी-निर्झर, फूल-पत्ते हमारे देखे हुए नही जान पडते। या फिर उधर देखिए, उस जन्तु की ओर, जिसकी बनावट भी किसी परिचित पाशवाकृति से नहीं मिलती-जुलती।

कहते हैं, गर्भस्थित बालक को भीतर ही भीतर अपने विकास की सारी सीढियाँ पैदा होने से पहले पार करनी होती है। इसी तरह हमारा जीवन भी समूचे विकास का एक संक्षिप्त संस्करण ही होता है। अपने ज्ञान-कर्म-उपासना के भीतर से हम उन असख्य सम्भावनाओं का एक बहुत ही थोडा-सा अश प्रकाश करते है, जो हमारी आत्मा मे निवास करती हैं। इसीलिए हमारी सत्ता का चेतन अश एक तरफ असीम अचेतन द्वारा और दूसरी ओर परम चेतन द्वारा घिरा हुआ होता है। तब क्या यह सम्भव नही है कि रवीन्द्रनाथ के चित्र, जो अपरिचित व्यक्तियो और आकृतियो, जीवो अथवा स्थानो के अनोखे रूप तथा रंग प्रस्तुत करते जान पड़ते हैं, वास्तव मे उनकी महान् व्यापक दृष्टि के एक जाल के समान है, जिसमे हमारे चैतन्य के यही तीनो रूप आकर बन्दी हो गये हैं, पकडाई दे गये है, औचक उलझ गये हैं? हम सभी की तरह कवि भी उन दो तत्त्वो के बने हुए थे, जो कुछ हद तक परम और कुछ हद तक परमोन्मुख विकास को प्राप्त होते है। और इसीलिए इन परमोन्मुख किन्तु अविकसित अंत को

निर्वासित करने की, मार्ग देने की, व्यक्त करके बहा देने की जरूरत थी, जिससे परम भागवत चेतना अपने समूचे वैभव को प्रकाशित कर सके। यह केवल भीतर की इच्छाओ का गोपन समाधान मात्र नहीं है, यह एक सत्य है। हमे मालूम है कि अपनी स्थूल काया के निर्वाण के पूर्व ही कवि 'हड्डियो के समूह' न होकर प्रकाश के जीवन्त पुज ही थे।

अक्सर हमने कवि को कहते सुना था कि जीवन-भर 'स्कूल-भगोड़े' लड़के की चंचल आत्मा उन्हे छाये रही। पाठशाला से पलायमान् शिशु जैसे अचानक ही कवि बन बैठा। आगे चलकर काव्य के रूप और बन्धन भी उन्हे क्लान्तिकर हो उठे। काव्य की पाठशाला से वे भागने लिए उत्सुक हुए और शिल्पी बन बैठे। वे चिरकाल आत्मा की स्वतन्त्रता के उपासक थे, और यही आत्मिक स्वतन्त्रता स्वतन्त्रता की आत्मा है। यही कारण था, जो वे अपने लिए अक्सर कुछ नया काम खोजा करते थे। किसी तरुण साथी ने एक बार उनसे उनकी प्रेरणा के गोपन उत्सव का रहस्य पूछा था। उत्तर मे कवि ने उन्हे लिखा था—'अपने जीवन की सबसे महान् प्रेरणाएँ मुझे या तो अप्रत्याशित भाव से—अचानक आये हुए विस्मयो के भीतर से—मिली हैं, या फिर सृजन-चेष्टा की नाना भगियो की राह से प्राप्त हुई हैं, जो सदा आत्म-प्रकाश मे हमे सहायता पहुँचाया करती हैं।'

अप्रत्याशित विस्मयो ने—जैसे सहसा अपनी पुश्तैनी सम्पत्ति के मैनेजर बनाकर भेज दिया जाना, पत्नी का देहान्त, मँझले बच्चे की अचानक मृत्यु, अध्यापक का काम—प्रतिक्रिया के रूप में असंख्य कहानियों और गीतो तथा मानव-प्रकृति के रहस्योद्घाटन की चेष्टाओ को जन्म दिया। ये सब जैसे तूफान की तरह थे, जो उन्हे उनके प्रकृत कवि-जगत् से दूर बहाकर ले गए। जार्ज हर्बर्ट के शब्दो में कहे, तो—"तूफान ही 'उनके' शिल्पकी जयध्वजा है।"

ऊपर एक साधारण दर्शक की हैसियत से कवि के शिल्प पर कुछ विचार प्रकाशित किये गए हैं। इस निबन्ध को हम रवीन्द्रनाथ क

ही कविता के एक उद्धरण के साथ समाप्त करते हैं :—

"कवि के भीतर के उस चिर-चचल मनमौजी पर
—जिसे यश की बाग भी वश मे नही रख पाती—
रेखाओ की लक्ष्मी का कुछ खास दुलार है,
क्योकि ख्याति की हाट मे अर्जित उसका
गर्वीला नाम अवज्ञा करता है—
शिल्पी की तूली की;
मुक्त पथपर जाने देता है वह उसे—बन्धनहीन—
—जिस तरह बन्धनहीन होती है
वसन्त की अनोखी रगसाजी।"

मरमी सन्त ऐण्ड्रूज़

शाश्वत सत्य की उपलब्धि के साधारणतः दो रास्ते हैं—रसात्मक अनुभूति और कर्ममय जीवन। जो कलाकार है, वे इनमे से प्रथम पथ का अनुसरण करते है, बल्कि यो कहा जाय कि उनकी सुगम्भीर प्रेरणा उन्हे ऐसा करने के लिए बाध्य करती है। ये लोग मानो अपने गीतो की उन्मुक्त उडान से प्रभु के पाद-पकजो का पुण्य-स्पर्श करते हैं। किन्तु दूसरी कोटि के साधक इस परिचित पृथ्वी मे ही भगवान् के दुर्गम अधिवास मे प्रवेश करने की बाधाओ को जैसे 'दाहिने हाथ से' अपसृत कर चलते हैं।

किन्तु मरमी सन्त अपने भीतर इन दोनो प्रकार की साधनाओ को आश्रय देते है। अपनी दृष्टि द्वारा वे पहले आध्यात्मिक हिमाचल के स्वर्णिम शिखर के दर्शन करते है और फिर जीवन के सामान्यतम कार्य को भी उसी उदार आलोक के आनयन का पथ बना लेते हैं। उनका जीवन जैसे एक सुन्दर जल-प्रपात है, जो किसी अदृश्य गिरिचूड़ा से हमारी परिचित उपत्यका मे आ गिरता है। दूसरी ओर वह अक्लान्त कर्मी है, जो कर्म से कर्म की ओर बढता जाता है और एक दिन देखता है कि उसके कार्यो की परिचालना किसी अदृष्ट शक्ति के हाथो मे चली गई है, वह स्वय मिट गया है। मशीन का चक्का जिस समय बडे वेग से घूमता है, उस समय हमारे देखते-ही-देखते दृष्टि से ओझल हो जाता है

दिवंगत चार्ल्स फ्रीअर ऐण्ड्रूज, जिनकी प्रथम पुण्य-तिथि इसी ५ अप्रैल को पडती है, ऐसे ही मरमी भक्त थे। केम्ब्रिज-विश्वविद्यालय से ग्रेज्युएट होने के बाद जब उन्होने अध्यात्म-जीवन की दीक्षा लेने का संकल्प किया, तब दीक्षा के समय उनके 'अतर मे एक ऐसा अद्भुत भाव जागा', जिससे उनके संपूर्ण जीवन का ताल-सुर ही बदल गया। उन्होंने शाश्वत प्रभु मसीह के दर्शन किए। उस एक छोटे-से क्षण के भीतर

किसी चिर-वसन्त का सुरभित श्वास था। उस क्षण के भीतर ही मानो प्रभु के अन्दर उन्होने पुनः जन्म लिया उनके पूर्व-जीवन की काया जैसे क्रूस के धनी के उद्दाम प्रेमानल मे जलकर भस्म हो गई। वे जैसे रात ही भर मे परमपिता के सुविपुल कुटुम्ब के एक साथ ही लाडले पुत्र और स्वामि-भक्त किंकर बन गये। इसके बाद उन्हे सदा दीनो के बन्धु और पीड़ितो के आश्रय बने रहना ही भाया।

वर्षों पीछे गुरुदेव रवीन्द्रनाथ और गाधी से उनकी भेंट हुई। इन दोनो के जीवन और कार्यों के भीतर भी ऐण्ड्रूज को उन्ही नित्यकाल के यीशु मसीह के दर्शन हुए, जिनके अगाध प्रेम की उन्होने दीक्षा पाई थी। कवि के निकट उन्होंने ब्रह्माण्ड की उस आत्मा के दर्शन किए, जो आनन्द से ही निर्मित है, और बापू के सखव ने उन्हे इस सत्य का अटल विश्वासी बना दिया की सेवा के भीतर से ही हमे अपने 'अह' को मिटा देना है, जिससे यह सारा जीवन इसी एक गीत को मुखर प्रतिध्वनि बन जाय—

"जो हाथ कार्य सम्पन्न करता है,
स्वामी, वह मेरा नही
तुम्हारा ही दाहिना हाथ है।"

प्रार्थना की महिमा मे उनका बड़ा विश्वास था। अपनी जीवन-बाती को वे दोनो ओर से जलाए हुए थे। वे चाहे जितने ही व्यस्त क्यों न हो, प्रभात और रात्रि के समय की स्निग्ध शान्ति का सदा उपयोग करते थे। इन अवसरो पर लेखक उनके मसीह-जैसे सुन्दर मुख को अलौकिक प्रकाश से आलोकित देखकर अवाक् हो गया है। इन क्षणो मे उन्हे देखने का अर्थ था—मनुष्य की आत्मा की नित्यता मे एक बार फिर से अटल विश्वास जाग्रत हो जाना,—यह जान लेना कि जो जीव मे है, वही परम के भीतर भी है। ऐसे व्यक्ति का क्या कभी अवसान हो सकता है?

ऐण्ड्रूज़ : वर्त्तमान युग के संत फ्रांसिस

प्लैटफ़ार्म पर विचित्र और अस्तव्यस्त भीड़ की ठेलमठेल है। लोग गाड़ी मे चढने के लिये धक्का-मुक्की कर रहे है। कुछ ही मिनटो मे गार्ड साहब ने हरी झण्डी दिखला दी और इञ्जन ने सीटी दी। देरी से आया हुआ एक यात्री किसी तरह डिब्बे के पायदान तक जा पहुँचा है; डिब्बा दूसरे दर्जे का है। भीतर के श्वेताग यात्रियो मे से एक के भीतर का वर्णाभिमान जाग उठा। उसने अपना क्रोध से रक्ताभ मुँह फिराकर काले आदमी के सामने ही बलपूर्वक दरवाजा चपेट दिया और कहा—'गेट आउट यू निगर!' गाडी के काले-गोरे मुसाफिरो ने इसे देखा और सारे अपमान की पीडा को चुपचाप पी गये। उस योद्धा के इस युक्तिहीन दुर्व्यवहार की अमानुषिकता के खिलाफ किसी ने चूँ तक नही की। लेकिन डिब्बे मे एक तरुण अंग्रेज मिशनरी भी था, जो अभी ताजा ही विलायत से आया था। केम्ब्रिज से डिग्री लेकर वह देश की चिर-पुरानी राजधानी दिल्ली के एक कालेज मे अध्यापक का काम करने जा रहा था। ईसा के धर्म पर विश्वास था और उनके 'सबके लिए प्रेम और किसी के लिए भी बैर नहीं' वाले सन्देश पर उसे श्रद्धा थी। इस घटना ने उसी श्रद्धा और विश्वास पर बुरी तरह आघात किया। अपने ही देशवासी का यह अहङ्कार उसके मर्म को छू गया। उसी क्षण के भीतर ही उसने सम्पूर्ण जीवन के लिये एक सकल्प लिया कि वह आजीवन इस अमानुषिक वर्ण-बाधा के विरुद्ध धर्मयुद्ध करता रहेगा। मानवीय समानाधिकार का यह भक्त और कोई नही, चार्ल्स ऐण्ड्रूज ही थे, जिनकी तीसरी पुण्यतिथि ५ अप्रैल, १९४३ को पड़ रही है।

ऐन्ड्रूज देश और देशान्तर मे चिर-जीवन इसी एक उद्देश्य की साधना करते रहे—जातिगत श्रेष्ठता के अहङ्कार को मिटा देना। यह अहङ्कार कुछ दिनो से पूर्व और पश्चिम दोनों जगह मनुष्यो के लिये अशोभन और लज्जाजनक हो गया था। कभी मञ्च पर से, कभी प्रेस के कालमों से और अपने जीवन के दृष्टांत से बीसियो बार ऐन्ड्रूज ने धन के दम्भी, शक्ति-

मद से अंधे लोगो के निकट अपना आवेदन जनाया—दक्षिण-अफ्रीका मे, फिजी-द्वीप मे, ब्रिटिश-गायना मे, आस्ट्रेलिया मे और दुनिया के किस हिस्से मे नही—कि वे पग-पग पर आज प्रभु ईसा को क्रूस पर टॉग रहे हैं, जब कि पग-पग पर वे उनके उपदेशो के उस मूल सत्य पर कठोर आघात कर रहे है, जिसमे कहा गया है—'प्रेम करो, परस्पर प्रेम करो।' और इसके उत्तर मे जब वे देखते कि भरी हुई जेबों मे अपने हाथ डाल कर, बैंक की बढती हुई बाकी पर अपनी अपलक दृष्टि जमाए इन संपत्ति-शालियो ने प्रभु के संदेश का अर्थ केवल श्वेतांग ईसाइयो के साथ ही भाईचारा जोड़ना समझा है, तब ऐण्ड्रूज की अकपट आत्मा सात्विक क्रोध से उद्दीप्त हो उठती और उनकी वाणी से जैसे बाइबिल की वाणी बोल उठती—'भ्रम मे न रहना, भगवान् के साथ तमाशा नही किया जा सकता !'

ऐण्ड्रूज मनुष्य को मनुष्य के नाते ही पहचानते और श्रद्धा करते थे, फिर वह मनुष्य पूरब का हो या पच्छिम का, उत्तर का हो या दक्खिन का। और इसी जीवन्त श्रद्धा तथा मानवीय गौरव के प्रति सम्मान की धारणा ने उन्हे एक ओर कवि रवीन्द्रनाथ का, तो दूसरी ओर महात्मा गाधी का घनिष्ठ बन्धु बना दिया था। उनके अन्तर मे प्रभु यीशु की उस सत्य और जीवित आत्मा का निवास था, जो शास्त्रों के वचन अथवा परम्परा की उक्ति मे अटकी नही रहती। इस मूर्ति ने गाधी तथा गुरुदेव के आदर्शों के निकट जीवन-व्यापी सेवा तथा निष्ठा के भीतर से अपने को प्रकाशित किया। कवि के शातिनिकेतन मे स्थित विश्वभारती के स्वप्न को साकार करने के लिए उन्होने जैसा अक्लांत श्रम किया, वैसा ही गाधी के अनुगत होकर 'दीन-हीनो और खोए हुओ की सेवा के लिए भी। काव्य-दर्शन तथा अध्यात्म के प्रति उनका जैसा प्रबल आकर्षण था, लाछित और उत्पीडित मानव-समाज के दुख को कम करने के लिए भी वैसा ही था। किन्तु पहले की अपेक्षा दूसरे का पलड़ा अकसर ही भारी पड़ जाया करता था। कन्फ्यूशियस के शब्दों मे ऐण्ड्रूज भी कह सकते थे—"कल्याण और मङ्गल कोई एकातवासी योगी नही हैं, वे पड़ोसियो से सदा

घिरे हुए है।' और इसी से अपने आराध्य देवता—यीशु ख्रीष्ट—के समान वे लोक-मङ्गल के लिये सदा गृहत्यागी बने रहे।

इस छोटे-से स्केच के लेखक को अपने जीवन मे एक बार ऐण्ड्रूज के निजी सहायक की हैसियत से उनकी सेवा करने का गौरव और आनन्द प्राप्त हुआ था। इस तरह वह विशेष भाव से उनके निकट सम्पर्क में आया। उसने कभी तो ऐण्ड्रूज को कार्य मे डूबा हुआ पाया, तो कभी उपासना मे। कभी देखा, वे अनन्त आकाश को कवि की दृष्टि के जाल मे बाँध रहे है, तो कभी पाया, उनका मन अनन्त विश्व के भीतर छिपे हुए आध्यात्मिक नियम का अनुगामी हो रहा है। फिर देखा, ऐण्ड्रूज स्टेशन की तरफ भागे जा रहे हैं—पहली गाडी पकडने—कोई बन्धु मृत्युशय्या पर अन्तिम घडियाँ गिन रहा है। अभी डेस्क पर झुके हुए किसी जरूरी चिट्ठी अथवा लेख मे डूबे हुए हैं, तो अभी उठकर रसोईघर की तरफ जा रहे है—किसी हड्डियों के ढाँचे-जैसे भिखारी की भूख शांत करने। और अन्त मे फिर उसी दुरूह अनिवार्य चक्र के उसी विश्राम-स्थल पर आ पहुँचते हैं—वही भूख, वही दुर्भिक्ष, वही संघर्ष। इन पंक्तियो के लेखक को उनकी इन्ही 'कृतियों द्वारा प्राणो की प्रेरणा' मिलती थी। किन्तु उसका खयाल है कि अनेक अवसरो पर यदि कोई ऐण्ड्रूज से पूछता कि उन्हे सबसे अधिक आश्चर्यजनक वस्तु जीवन मे कौन-सी मालूम हुई, तो वे एडविन मार्खम के शब्दो मे बिना विचारे उत्तर देते—"कैण्टका कहना था—'दो चीजे मुझे आतंक और आश्चर्य से भर देती हैं : ताराओं से भरा हुआ आसमान और विश्व का नैतिक नियम।' किन्तु मै एक और वस्तु जानता हूँ, जो इनसे कहीं भीषण और अख्यात है : लूटे-खसोटे हुये गरीबों का सुदीर्घ—सुदीर्घ धैर्य।"

शायद यही कारण है, जो जीवन के सबसे बडे शिल्पी महात्मा गांधी ने चार्ल्स ऐण्ड्रूज को 'दीनबन्धु' कहकर पुकारा था, जिस पुण्य नाम को देश की कृतज्ञ जनता ने अनायास ही स्वीकार कर लिया और जिससे उन्हें चिरकाल के लिए वरण किया।

दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ के संस्मरण

जब मै दीनबन्धु ऐण्ड्रूज के कुछ सस्मरण लिखने बैठा, तब सचमुच कुछ सूझ नही पडा, कारण कि उनके प्रेम और आदर्शो का प्रभाव मुझ पर इतना गहरा पडा है कि उसे अलग करके उनके जीवन की कुछ विशिष्ट घटनाओ को पक्तिबद्ध करना कठिन मालूम होता है। तब भी जो दो-चार स्मृतियां इस समय याद आ रही है, उन्हे ही यहाँ लिखे देता हूँ।

दीनबन्धु के जीवन को परिचालित करनेवाला आदर्श क्या था, सो बहुत वर्ष हुए उनकी मेज पर सूत्ररूप मे लिखे हुए एक लैटिन वाक्य को पढकर मैने जाना। उसका अर्थ पूछने पर उन्होने बतलाया कि वाक्य का आशय है—'तुमने अधिक क्या किया ?' वह अक्सर कहा करते थे कि हम लोग अपने धर्म और कर्तव्य मात्र को जानकर सन्तुष्ट हो जाते हैं, उससे अधिक उदार होने की कोई जरूरत नही समझते। मानो मनुष्य की आत्मा सीमित वस्तु है। यदि आदमी सिर्फ उतना ही करे, जितना उसे करना है, अथवा जितने की उससे माँग है, तो इस कर्तव्यपालन मे बनियागीरी की गन्ध आती है। सम्भवतः महात्मा क्राइस्ट के मन मे भी कुछ ऐसा ही विचार था, जब उन्होंने अपने शिष्यो से कहा था कि यदि कोई गरीब तुमसे तुम्हारा कोट माँगे, तब उसे सिर्फ कोट देकर ही मत सन्तुष्ट हो रहो, अपनी कमीज भी उतार कर दे दो।

जब मै दीनबन्धु का सेक्रेटरी था, तब मैने प्रत्यक्ष देखा था कि यदि अपनी आवश्यकता के लिए किसी ने कभी उनसे एक रुपये की माँग की, तो वे उसे पाँच से कम नही देते थे। शान्तिनिकेतन मे मैने देखा था कि किसी फकीर के धोती माँगने पर उन्होने सदा धोती के साथ कुर्ता भी उतारकर दिया है।

इसी प्रकार उदार प्रेम का बर्ताव वे उनके साथ भी करते थे जिन्हे समाज घृणा और लाछना की दृष्टि से देखता है। भारत आने के पूर्व दीनबन्धु लन्दन शहर के उस भाग मे निवास करते थे, जहाँ परले दर्जे के

शराबी और जुआरी रहा करते है । उनके बीच रहते हुए उनकी सेवा करने मे उन्हे असीम आनन्द और सन्तोष का अनुभव होता था । उन लोगो मे एक ऐसा व्यक्ति भी था, जो शराब पीकर दगा-फसाद करने तथा नीच कर्मों मे प्रवृत्त होने के कारण कई दफा जेल भुगत आया था । हर बार उसके जेल से लौटने पर दीनबन्धु उससे बडे प्रेम से मिलते और उसके कल्याण के निमित्त प्रभु से प्रार्थना किया करते थे । एक दिन उसने चिढकर कहा—"आप मेरे पीछे क्यों पड़े है ? आप मुझे पक्का ईसाई बनाना चाहते हैं, लेकिन मै आपसे साफ-साफ कह देना चाहता हूँ कि आपके भगवान् और ईसामसीह मे मुझे रत्तीभर भी विश्वास नहीं है ।" दीनबन्धु ने उसे आलिंगन करके कहा—"भाई, भगवान् तो तुम पर विश्वास करते हैं, वे तो तुमसे बराबर स्नेह करते है ।" इन शब्दो का प्रभाव उस आदमो पर लगभग जादू-जैसा हुआ । उसी दिन से उसका जीवन ही बिलकुल बदल गया । लोग हैरान थे कि आखिर वह आदमी सहसा क्यो इस कदर बदल गया । उससे पूछा जाता, "भाई साहब, आज कल आपका व्यवहार ऐसा ममतामय और वृत्ति ऐसी शान्त क्यो हो गई है ?" वह उत्तर देता "जानते नही ? भगवान् मुझ से प्रेम के कुछ योग्य बनना होगा ?" कुछ दिनो बाद वह आदमी अफ्रीका चला गया और वहाँ पादरी की हैसियत से बहुत वर्षों तक लोगो की सेवा करता रहा ।

कराची मे एक बार एक अंग्रेज़ अपनी पत्नी और चार वर्ष की बच्ची को लेकर दीनबन्धु से मिलने आये । सध्या समय जब हम लोग समुद्र-तट पर टहल रहे थे, दीनबन्धु ने उनसे बातचीत की । जब वे विदा होने लगे, तब उनकी छोटी बालिका दीनबन्धु की ओर ताककर बोल उठी—"Mummy ! He is Jesus !" (माँ, यह तो ईसामसीह हैं !) दीनबन्धु की आँखो में आँसू उमड पडे । उन्होने बालिका को अंक मे समेटकर अपनी दिव्य शान्ति से उसका मस्तक चूम लिया ।

उनकी कराची-यात्रा की और भी दो-एक बातें याद आ रही है । एक दिन एक युवक ने उनसे प्रश्न किया—"ऐण्ड्रूज़ साहब, ईश्वर कहाँ है ?"

दीनबन्धु ने उससे हँसकर कहा,—"मै तुम्हे शाम को ईश्वर के पास ले चलूँगा।" शाम हुई और युवक उत्सुकतापूर्वक आकर उपस्थित हो गया। दीनबन्धु ने मुझ से कहा कि नगर के उस भाग मे चलो, जहाँ अन्त्यजों की बस्ती है। हम तीनों एक बूढे भगी के द्वार पर जा खडे हुए। झोपड़ी में दस वर्ष का एक मातृहीन, दादी-विहीन बालक तपेदिक से बीमार पड़ा था और बूढा उसी की सेवा मे जुटा हुआ था। उसकी ओर संकेत करके दीनबन्धु ने युवक से कहा—"देखो, यही भगवान् है।" नवयुवक स्तब्ध रह गया। इस बात का उस पर कुछ ऐसा असर हुआ कि उसने व्यापार मे दाखिल होकर धनोपार्जन करने का अपना इरादा छोड़ दिया और अन्त मे सम्पूर्ण जीवन समाज के दीन-दुखियो की सेवा मे ही गुजार दिया। दुःख की बात है कि वह अधिक दिन जीवित नही रहा। उपर्युक्त घटना के प्रायः ७ वर्ष बाद ही वह इस दुनिया से चला गया।

दूसरी बात जो मुझे याद पडती है, दीनबन्धु के, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ, कराची-प्रवास के सिलसिले की है। बात ऐसी तय हुई थी कि दीनबन्धु जहाज से गुरुदेव के साथ पोरबन्दर जायेंगे। दोनो यात्रा के लिए प्रस्तुत होकर जहाज पर चढे। लेकिन जब जहाज के छूटने मे केवल १० मिनट ही थे, तब दीनबन्धु सहसा कह उठे—"गुरुदेव, मुझे क्षमा कीजिए, मै आपके साथ पोरबन्दर न जा सकूँगा। मैने अभी अखबार मे पढा है कि दक्षिण-अफ्रीका से तीन-चार सौ भारतीय दो दिन बाद कलकत्ते पहुँचनेवाले हैं। उन बेचारो का वहाँ क्या हाल होगा—सोचना कठिन है। वे तो किसी को नही जानते-पहचानते! कहाँ रहेंगे, क्या खायेंगे? यह सब विचार कर मैने तय किया है कि यहां से सीधे कलकत्ते चला जाऊँ।" गुरुदेव ने मुग्धचित्त से खुशी-खुशी उन्हें जाने की आज्ञा दे दी और अपना आशीर्वाद भी दिया।

शन्तिनिकेतन मे एक बार दीनबन्धु से एक ईसाई प्रोफेसर मिले और तीन दिन उनके साथ रहे। रविवार के दिन प्रातःकाल प्रोफेसर साहब ने किंचित् दया के साथ कहा—"बन्धु, यहाँ तुम रविवार की साप्ताहिक

उपासना न कर पाने के कारण बडे दुःखी रहते होगे। कारण, यहाँ गिरजा तो नहीं है।" दीनबन्धु मौन ही रहे। ठीक उसी क्षण आश्रम के दसवीं कक्षा के कुछ विद्यार्थी अपनी क्लास का समय पास जानकर द्वार पर आ खडे हुए। दीनबन्धु ने उन सबकी तरफ हाथ से दिखलाते हुए अपने मित्र से कहा—"प्रिय बन्धु, दैनिक कहो अथवा साप्ताहिक, मेरी उपासना यही है।"

दीनबन्धु की एक मूर्ति सदा मेरे अन्तर मे निवास करती है। वह है उनकी शान्तिमयी, स्नेहमयी मूर्ति, उनके मुख की वह स्थिर-धीर करुणोज्ज्वल शोभा, जो प्रार्थना के समय कितने ही प्रभात और सन्ध्या के आलोक मे मैने देखी है। शान्तिनिकेतन के उस स्थान मे, जहाँ भोर की उपासना के बाद वे टहला करते थे, जब आज भी मै टहलने जाता हूँ, तो उनकी वही चिर-प्रशान्त मूर्ति मेरी आँखो के आगे आ जाती है। कई बार तो ऐसा लगता है, मानो वे स्वयं ही वहाँ उपस्थित है और मेरे कन्धे पर सदा की भाँति हाथ रखकर पूछ रहे है—"गुरुदयाल, तुमने ज्यादा क्या किया ?" मै क्या उत्तर दूँ ? आँखे हठात् भर आती है और तब मन को स्थिर करने के लिए मै नीचे की पंक्तियाँ गुनगुनाने लगता हूँ, जो मैने आज से कई वर्ष पूर्व लिखी थी :—

आज प्रभात मे कौन आया ?
रात अबही खतम हुई थी,
किसी ने आ दर खटखटाया।
पूछा तब मैने अन्दर से,
कौन मेरे घर को आया ?
'मै हूँ'—दिया जवाब उसने—
'तेरा मेहमान होके आया।'
'क्या करोगे मेरी खातिर ?'
यह कह के उसने मुझे शर्माया।

सम्प्रदायों की एकता और 'दीनबन्धु'

ईसाइयो की धर्म-पुस्तक बाईबिल मे प्रभु यीशु का एक वाक्य है, जिसका अर्थ ऐसा किया जा सकता है कि 'सब नियमो की सफलता प्रेम मे ही पूर्ण रूप से होती है।' इस वाक्य का प्रभाव दीनबन्धु ऐण्ड्रूज के, जिनकी पहले वर्ष की मृत्युतिथि ५वी अप्रैल (१९४१) को पड़ती है, जीवन भर को सामाजिक सेवाओ पर बहुत ही गहरा था। इसलिये जब कभी कोई ऐसा मामला उठ खडा होता और किन्ही दो व्यक्तियो या किन्ही दो सम्प्रदायो या दलो के बीच समझौता कराने का प्रयत्न उन्हे करना होता, तो वे नियमो से भी ऊपर प्रेम को स्थान देते थे। वे सामाजिक रीति-नीति या राजनैतिक विचारो या सरकार का लाल फीते से घिरा दफ्तर, इन सबो को सहज मे पार करके हम सभी मे जो एक ही मानवता का कोमल स्थान रहता है, उसी को बारम्बार स्पर्श करने की चेष्टा किया करते थे। ऐसा करते समय उन्हे अपनी व्यक्तिगत दीनता कुछ भी नही मालूम देती थी और सरकारी हाकिमों और अफसरो के पास दौड़ते-दौडते उन्हें जो कष्ट होता था, उनकी भी वे परवाह नही करते थे।

मुझे याद है कि पञ्जाब मे मार्शल लॉ के बाद जब उन्हे वहाँ जाने की इजाजत मिली (१९१९), तब कई दफा उन्होने सरकारी अफसरो को, जो न्यायप्रियता दिखाने के लिये या फिर अपने किसी बन्धु को या सहकर्मी को बचाने के स्वार्थ मे सकोच करने के साथ कहते…'हम सरकारी नियम ऐसा करने से मना करता है' तब दीनबन्धु उठकर खडे हो जाते और उसके कधे पर प्रेम से हाथ रखकर हाथो मे एक विचित्र ज्योति भर कर कहते—But my friend, love is Greater then all your laws (पर मेरे मित्र तुम्हारे सब नियमो से भी बडा प्रेम है)। ऐसा कहने के बाद मैने अनुभव किया है कि ज्यो ही उस अफसर ने यह शब्द सुने हैं, त्यो ही वह उग्र की जगह शान्त-स्थिर हो गया है और चुपचाप दोनो हाथो से अपनी भुजाओ को जकड़ कर कुर्सी मे ढीला हो गया है और कह उठा है—All right Mr. Andrews, what you want will be done. I shall send a note to the proper

party (अच्छी बात है मि० ऐण्ड्रूज, जो आप चाहते हैं वैसा ही किया जायेगा और जिसका इस मामले से सम्बन्ध है, उसे मै एक पत्र भेज देता हूँ) । लेकिन दुःख की बात तो यह हुआ करती कि जहाँ बडे अफसर राजी हो जाते, वहाँ उनके मातहत अफसर और भी अकड बैठते और यही कारण था कि कई दफा दीनबन्धु की कोशिशें जितनी जल्दी और जिस तरह सफल होनी चाहिये थी, न होती थी ।

हिन्दू-मुसलमानो की एकता के सवाल पर उन्होने कभी खास मौके पर कुछ कहा हो, ऐसा अभी याद नही आ रहा है । लेकिन उनके एक दो इशारो से जा मुझे अभी याद है, उनके मन के रुख को समझा जा सकता है । एक दिन मैने निराश होकर उनसे कहा था—"हिन्दू मुसलमानो के बैर-भाव की खाई दिन-ब-दिन गहरी होती जा रही है और सरकार इसी बहाने उधर इस मौके से लाभ उठाते हुए कहती जा रही है कि जब तक ऐक्य न होगा, तब तक स्वराज्य नही मिलेगा ।" उन्होने उस समय कहा था कि "But my dear friend, freedom is the soul's birth-right and it is far greater than Hindu-Muslim unity What the soul demands no power on earth could ever resist for long For the soul is of God (आजादी आत्मा का अधिकार है और हिन्दू-मुस्लिम एकता से बडी चीज़ है । और जो कुछ आत्मा माँगती है, उसे दुनिया की कोई शक्ति नही, जो उसका देर तक मुकाबला कर सके । क्योकि आत्मा भगवान् का अंश है) ।

आत्मा से उनका क्या मतलब था और हिन्दू-मुसलमानो के परस्पर सम्बन्ध पर कैसे और क्या असर पडेगा, वह उन्होने साफ़ करके मुझे नही बतलाया । लेकिन उस दिन रात को लाहौर का ट्रिब्यून पढते हुए उन्होने .खुदाई खिदमतगारो के विषय मे कुछ पढा । पढने के बाद मुझे देते हुए बोले That is the way, (यही वह रास्ता है) । .खुदाई खिदमतगारो के विषय मे पढ़ो । पढने के बाद मुझे मालूम हुआ है कि वे

यह मानते हैं कि हिन्दू और मुसलमान सीटो के लिये लड़ने की अपेक्षा खुदाई खिदमतगारो को तरह मिलकर प्रेम से एक दूसरे की सेवा करें। यदि वे एक हो, तब तो स्वराज्य आज ही मिल जायेगा। यही कारण था कि गाधी जी के सत्याग्रही-सघ और ख़ुदाई खिदमतगार तथा चीन मे जो New life movement (नवजीवन-आन्दोलन) के लिये उनके दिल मे सच्ची श्रद्धा और गहरी हमदर्दी थी।

एक और इशारा मैंने उस समय पाया, जबकि वे दिल्ली के मुंशी जकाउल्ला साहब का जिक्र कर रहे थे। गदर के दिनो मे मुशी जी को एक अग्रेज ने अपने घर मे छिपा कर उनका प्राण बचाया था। और तब से मुंशी जी इस जीवन-रक्षा के लिये विक्टोरिया रानी तथा उनके राज्य का गुण-गान किया करते थे। दीनबन्धु ने कहा कि "यदि हिन्दू और मुसलमानो के झगडे के समय स्व० गणेशशङ्कर विद्यार्थी की तरह प्राण दे देने वाले भाव सबके दिल मे आ जायें, तब वे सब अपने धर्मो की सच्ची सेवा कर सकते हैं और अपने धर्म की भी रक्षा करने मे समर्थ हो सकते है। क्योकि कोई भी धर्म किसी से दुश्मनी नही करता।

दीनबन्धु के लिये देश या धर्म से बड़ा मनुष्य था और उनका पूरा विश्वास था कि मानव प्रभु की ही एक मूर्ति है (Man is made in the image of God)। और जैसे प्रभु को पाने का प्रेम ही एक सच्चा रास्ता है, उसी तरह मानव-मानव के द्वेष को दूर करने का प्रेम ही एक रास्ता है।

पर हम मे से प्रेम करना जानते हो कितने है? हमारे तो प्रत्येक कार्य मे स्वार्थ का एक बडा हिस्सा भरा रहता है। और ज्ञान द्वारा अद्वैत भाव कभी उत्पन्न हो भी जाये, लेकिन वह सहज कभी नही होता। लोग अमृत की तलाश मे फिरते हैं। लेकिन अमृत से बडी वस्तु प्रेम है, इस ओर उनका ध्यान जाता ही नही! एक सूफी ने ठीक ही कहा है—
"जिन प्रेम रस चाखया नही, उन अमृत पिया तो क्या हुआ।"

स्व० अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रति श्रद्धाञ्जलि

कलागुरु श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर सचमुच एक उच्चकोटि के गुरु थे। उन्होंने न केवल कलासबधी उस अज्ञान को जो इस शताब्दी के प्रारम्भ मे हमारे देश मे फैला हुआ था, अपनी कृतियो के उज्ज्वल प्रकाश से दूर किया, बल्कि भारतीय कला की ज्योति को लगभग तीस-चालीस वर्ष तक जलता रखा, उसका समस्त उत्तरदायित्व सॅभाला। इस ध्येय को सामने रख कर उन्होने कई कलाकारो को कला का मर्म सिखाया, जिसके फलस्वरूप आज बहुसख्यक भारतीय हिम-पर्वत और ताजमहल के स्वर्गीय सौंदर्य की अपने हृदय से आराधना कर सकते हैं,—हॉ, हृदय से आराधना, केवल दिमाग और पैसे से नही, जैसे अब भी असख्य लोग कहते हैं।

किसी दार्शनिक ने कला की व्याख्या इस प्रकार की है—प्रकृति + मनुष्य = कला। इस व्याख्या का प्रतिबिम्ब अवनी बाबू के चित्रो मे स्पष्ट दिखाई देता है। उनका विश्वास था कि प्रकृति मे, जो प्रभु की चेतना का एक स्वरूप है, प्रत्येक सर्जित वस्तु का सम्पूर्ण रूप और रग पाया जाता है, इसलिए कलाकार का पहला धर्म है इस संपूर्ण रूप और रंग को अपने आन्तरिक चक्षुओ से देखना। उसके बाद इस सम्पूर्णता की जो झलक उसे मिली हो उसे अपनी कृति मे अपनी पीछी ? (मोर-पख) के जादू की सहायता से उतारना हूबहू ऐसे नहीं जैसे कि वह वस्तु प्रकृति के अजायबघर मे पायी जाती है, अपितु उस तरह जैसे कि उसकी आत्मा ने (जो परमात्मा का एक अश है) अपने प्रकाश मे उसे देखा है। यही कारण है कि कला को आत्मा, आत्मा की कला है। इसीलिए तो कला प्रकृति और मनुष्य के सगम का परिणाम है।

किंतु अवनी बाबू केवल Pan (प्रकृति के देवता) ही नहीं थे अपितु

Puck (आनद के अवतार) भी थे, क्योकि जिस किसी ने भी उन्हे बच्चो को कहानी सुनाते देखा है, अथवा उनके लिए लिखी हुई कहानियो को पढा है, वे अच्छी तरह जानते है कि अवनी बाबू की आँखो मे देवताओ के हास्य का प्रकाश सदा चमकता रहता था। जोवन मे इतना दुःख होने पर भी उनकी आँखे कभी इस आनदमय जगत् के आलोक से वचित नही रही। कला की दूसरी व्याख्या है प्रभु की सृष्टि को देख कर प्रसन्न होना और हँसना। अवनीन्द्र स्वय हँसना जानते थे और दूसरो को भी हँसाना जानते थे।

यदि ईश्वर का एक स्वरूप आनद है—जैसा कि ऋषिमुनियो ने हमे सिखाया है, तो अवनी बाबू अब उस आनद मे मिल गए है। इसलिए कला मे जो कोई आनद का अनुभव करेगा उसे केवल आनदमय प्रभु का ही नही, अपितु अवनी बाबू का भी आशीर्वाद मिलेगा। अपनी कला की कीमिया द्वारा सचमुच अवनी बाबू अमर हो गये हैं, उनकी अमर आत्मा को सप्रेम और सादर प्रणाम!

अवनीन्द्रनाथ ठाकुर

इस सृष्टि मे जो कुछ सुन्दर है, अनवद्य है, अपूर्व है, उसके उपासको मे अवनीन्द्रनाथ ठाकुर का स्मरण सबसे पहले आता है। पिछली १९वी अगस्त (१९४६) को उन्होंने अपने जीवन के ७६वें वर्ष मे प्रवेश किया है। उनके छन्दोमय अन्तर मे उस शाश्वत बालक का निवास है, जो इन्द्रधनुष की रजित शोभा के असख्य बुलबुले आसमान मे उडाता रहता है, जिसके कौतुक की रगीनी, आनन्द की छलकन कभी थकना नहीं जानती। इसी से बुढापे की मायूसी, श्रान्ति और उदासी, दृष्टि-शक्ति की कमजोरी और कर्म-शक्ति का उतार—इस सबको व्यर्थ करके उनकी सृजन-शक्ति आज भी चुप नही बैठ पाती। हाल ही मे शान्तिनिकेतन के कला-भवन से निकलनेवाली एक हस्तलिखित पत्रिका मे उन्होंने लिखा था—"दृष्टि-शक्ति की सीमा कौन निर्धारित करेगा? अभिव्यजना का आवेग कभी चुक भी पाया है? मै रात-दिन अपनी दोनो आँखे खोले इस सृष्टि को निहारा करता हूँ और मेरा अचरज कभी समाप्त नही होते!"

यह जो नई सृष्टि रचने या पुरानी चीजो को नये सिरे से गढने की भावना है, नवीन से नवीनतर का आविष्कार है, इसी ने उन्हे आज से प्रायः अर्द्ध शताब्दी पहले सम्पूर्णतया पश्चिमी रीति, भगी, दृष्टिकोण और अभिरुचि का सरल पथ छोडने की प्रेरणा दी और कहा कि तुम उस दुनिया मे आओ, जहाँ देश का शिल्प देश ही के मर्म से उगता है, जहाँ देश के सस्कार, इतिहास और स्मृति से वह उसी तरह बरबस आविर्भूत होता है, जैसे धरती की छाती से अकुर। जीवन-यात्रा मे सचित किये हुए अपने भावों को अवनीन्द्रनाथ ने इसी रग मे रँग डाला; किन्तु उन दिनो कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर-जैसे प्रतिभासम्पन्न कुछ बिरलो ने ही यह समझा कि आसपास की रूढियो के बन्धनो को तोड़-फोड़ डालने के

लिए बेचैन इस तरुण शिल्पी के मन मे अपनी ही मौलिक प्रेरणा जाग उठी है, अन्तर्दैवता का आदेश गूँज उठा है, और इस महादेश की यह आकाक्षा भी बोल रही है कि अपने भावी भाग्य का निर्माण यह देश अब स्वय ही करेगा। इतिहास साक्षी है कि स्रष्टा और शिल्पी ही पहले देश मे नये प्राण फूँकते है—राजनीतिज्ञ नही।

शिल्प के क्षेत्र मे बगाल का नवजागरण और राष्ट्रीय चेतना का विकास साथ-ही-साथ चले। यह सिर्फ प्रसंगवश ही हो सकता है; और हुआ यही। किस जागरण ने किसे प्रभावित किया, कौन किसका पुरोगामी था, यह बात विवादग्रस्त हो सकती है। चाहे जो हो, इतनी बात निश्चित् है कि अवनीन्द्रनाथ को अपने सवेदन के अनुसार सृष्टि करने की जो मुक्ति मिली, उसने भारतवर्ष के नवजन्म-लाभ का प्रशस्त पथ खोल दिया। शिल्पमय भारत के स्रष्टा अवनीन्द्रनाथ ही है।

कहते हैं शिल्प मे देशवासियो की खोई और भूली, कुठिता और उपेक्षिता महत्त्वाकाक्षाएँ व्यक्त होती हैं। शिल्पी इसीलिए वह दुभाषिया है, जो उन गोपन स्वप्नो को वाणी दान करता है। राह-चलता आदमी भी अपने अन्तरतम मे ऐसे उदात्त स्वप्नों को सहेजे रहता है, किन्तु स्वय उनके अस्तित्व को नही जानता। कभी उनकी झलक पा भी ले, तो वह चिरस्थायी नही होती इन सब सपनो मे सौन्दर्य और विस्मय की अनुभूति ही शायद सबसे अधिक प्रबल होती है। जिसे लेकर छोटा-सा बच्चा भी, कविगुरु रवीन्द्रनाथ के शब्दो मे, "जगत् के मर्म मे परिव्याप्त रहस्य के खजाने मे प्रवेश करने का अधिकार पाता है।" यह अनुभूति स्वतःस्फूर्त्त होती है, खुद-बखुद जी मे जाग उठती है। इसी से अवनीन्द्र-नाथ ने हमे पुकारा : आओ, सृष्टि को प्रेम की आँखो से—मुहब्बत की नजर से देखो। सिर्फ प्रेमी मे ही वह ताकत होती है, जिससे मामूली झोपड़ी के पीछे वह राजमहल की समृद्धि देख सकता है, साधारण दासी के अन्तर मे विद्यमान राजरानी के दर्शन करता है, अन्त्यज के मर्म मे अवनीपति का साक्षात्कार कर सकता है, रास्ते की धूलि के कणो मे

भगवान् के मगल-पुष्प का पराग उपलब्ध कर पाता है। शिल्पी ऐसा ही परम प्रेमी है।

अवनीन्द्रनाथ की देन—उनका सन्देश क्या है? अपने चित्रो द्वारा उन्होने प्रकृति और मानव की दुनिया का चिरन्तन सौन्दर्यमात्र ही नही दिखाया, भारतवर्ष के मृत्युहीन अतीत और अमरतर भविष्य की ओर भी अगुलि-निर्देश किया। देश के जीवन पर तो इसका बहुविध प्रभाव पडा ही, सबसे अधिक प्राण देश के उस सुशिक्षित तरुण-सम्प्रदाय ने पाये, जिसने यह भुला ही दिया था कि हमारे मुल्क के पास अपनी ही एक मूल्यवान तहजीब की विरासत है, सस्कृति की सचित निधि है, जो अन्य किसी देश से श्रेष्ठतर न भी हो, तो कमतर भी नही।

इस प्रकार अवनीन्द्रनाथ ने देश के सच्चे प्रेमी के रूप मे अपना परिचय दिया। देश प्रेम का सोमरस उन्होने आकठ पान किया था और उनकी तूलिका की उदारता ने मानव-मात्र के मगल को अभिव्यजित करने का सकल्प किया था। यही स्वाभाविक भी था। शिल्पी का शिल्प किसी स्वागत और स्वीकृति की भावना पर ही तो खडा होगा, निषेध और वर्जन पर नही। इसी से उनका देश-प्रेम मानव-प्रेम का परिपथी नहीं, प्रतीक है। चण्डीदास का वह वाक्य कि 'सवार उपर मानुष सत्य' अवनीन्द्रनाथ का जीवन-सिद्धान्त है।

बहुत दिनो पूर्व कवयित्री सरोजिनी नायडू ने कविगुरु रवीन्द्रनाथ के जन्म-दिवस पर जो कविता लिखी थी, आज शिल्पीगुरु अवनीन्द्रनाथ की जयन्ती के समय हम उसे ही दुहराये देते है—"आज सारे विश्व का आनन्द मेरे आनन्द मे बोल रहा है। तुम्हारी प्रतिभा का प्रदीप हमारे बीच आज भी उज्ज्वल है, आज भी वह सदा की तरह आसपास के विश्वव्यापी अन्धकार को भेदकर अपनी आभा का सदेसा 'उस पार' तक भेज रहा है। हमारी चिरसचित प्रार्थना यही है कि तुम्हारे पतले और पुराने हाथो मे सौन्दर्य का वह आलोक सुदीर्घ काल तक सुशोभित रहे, जिससे ससार आनन्द और आवेग दोनो का वरदान पाता है।"

शिल्पीगुरु अवनीन्द्रनाथ

रविवार का सुरम्य प्रभात था। शान्तिनिकेतन के दो तरुण अभ्यागतो के साथ मै चला जा रहा था। हमारे चारो ओर गम्भीरता और स्नेहमय सम्मरणो का वातावरण छाया हुआ था। हम लोग कविगुरु रवीन्द्रनाथ के निवास गृह की ओर कदम बढा रहे थे, जहॉ पर पिछले दिना मे, विश्व के भौतिक तत्त्वो मे विलीन होने से पूर्व, वे रहा करते थे।

ठीक इसी समय एक इकतले भवन के बरामदे से शीघ्रतापूर्वक बाहर निकलते हुए उज्जवल धवल वस्त्रधारी एक परिचारक ने आकर मुझे सूचित किया—"दादा आपको याद करते है।" मै जरा विस्मित होता हुआ उसके पीछे-पाछे हो लिया और सोचने लगा कि यात्रा की परिसमाप्ति पर क्या पाऊँगा ?

पनहो उतारकर, नम्रता के साथ भवन मे प्रविष्ट होते ही उन्होने अपनी निर्दोष और शरारतभरी ऑखो से मेरी ओर ताका तथा अपनी नई रजतशुभ्र दाढी पर हलके हाथ फेरते हुए पूछा—"किस तरफ, भाईजान ?"

ससंभ्रम मैने उत्तर दिया—"कविऋषि के तीर्थ गृह की ओर।"

"चलो, तुम्हारे साथ मै भी चलूँगा"—कहते हुए वे तत्काल कुर्सी से उठ खडे हुए। और अपनी पुरानी लाठी टेकते हुए हमारे अभिप्रेत स्थान की ओर चल पडे। इस तरह सिर्फ खुशकिस्मती से मैने उस दिन मातृभूमि के सर्वोत्कृष्ट शिल्पी का उदात्त और प्रेरणापूर्ण सग पाया। वे थे सत्तर-वर्षीय वृद्ध शिल्पाचार्य श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर।

कुछ क्षणो मे ही हम उस जीने तक आ पहुँचे, जो आश्रम गुरु के तीर्थ-गृह को जाता था। हम लोग नितान्त चुप थे, क्योकि तीर्थ-यात्रा की भावना से हमारे हृदय आर्द्र और भाव-विभोर बने जा रहे थे। गम्भीर

मौन-भाव से (जिसमे मौन ने मौन के द्वार पर अपनी बात कही) हमने उस पवित्र स्थान की परिक्रमा की। कदम-कदम पर हमारी दिली आँखे वह दृश्य निहार रही थी, जब कि इसी स्थान पर कभी हम गुरुदेव को देवदूत की-सी शोभा-सज्जावाले श्वेत-सरल परिधान पहने देखा करते थे। अपने अन्तस्तल मे हम अनुभव कर रहे थे, मानो वेदिका की प्रदक्षिणा कर रहे हों।

वातावरण की पवित्रता और गम्भीरता के कारण मन्त्र-मुग्ध की-सी दशा मे हम लोग सीढ़ियो से नीचे उतर आये। अश्रुजल के आविर्भाव के साथ गम्भीर मौन टूट गया। मैंने देखा, शिल्पी गुरु की अँखियाँ आन्तरिक प्रेम उमड आने के कारण डबडबा रही है।

"वे जीवित हैं, वे अभी जीवित हैं!"—कलागुरु कहने लगे। उनका कण्ठ अभी तक प्रेम-सभार से अवरुद्ध हो रहा था। वे कहते गए—"शिल्पी प्रथम तो अपने ही चित्त-लोक मे निवास करता है, फिर अपने सहयोगियो के चित्त-राज्य मे और अन्त मे अपनी कृतियो मे।"

इसके बाद कलागुरु का मुखडा किसी विचारोदय के कारण सतेज हो गया। वे मेरी ओर निहारकर कहने लगे—"हम उन्हें याद रखेंगे, जिन्दा रखेंगे, कभी अवसन्न नहीं होने देंगे।"

जब मै विनम्र भाव से उनके भावो का अनुमोदन कर रहा था, तभी मैंने पल-भर मे ही अनुभव किया कि उत्तरदायित्व का वह भार कैसा गुरुतर है।

उसी सिलसिले मे वे कहते गए—"वे (जो भौतिक सम्बन्ध की दृष्टि से उनके चाचा होते थे, पर भावना की दृष्टि से जो उनके सतीर्थ शिल्पी-बन्धु थे) तो मेरे सर्वस्व थे। उनके अवसान ने मुझे तूफान मे एक अनाथ की तरह छोड दिया है। ऐसा अनाथपन तो मैंने अपने निजी परिवार के प्यारे से प्यारे व्यक्ति के अवसान पर भी नहीं अनुभव किया। वे मेरे खेल के साथी थे, माता-पिता थे, मन्त्रदाता गुरु थे— एक ही साथ वे मेरे सब-कुछ थे।"

कर पाओगे। तो फिर तुम इस विषय मे प्रकृति-जैसे ही क्यो नही बन जाते? तुम अपनी कुतूहल-प्रेरित कल्पना द्वारा उस दिव्य गतिमान् आदर्श-रूप का साक्षात् दर्शन करो और उससे अपनी कृति को अनुप्राणित करो।

'प्रकृति-देवी की उपस्थिति मे तुम विनम्र बनकर सामने खडे हो। उसकी पावनता द्वारा अपने को प्रशान्त और पावन बना लो। तुम उसके पुत्र हो, इसलिए वह सबसे अधिक तुम्हे अपने आँगन मे खेल-कूद करते देखना चाहती है। यही आँगन उसका मन्दिर भी है। सभी शिल्प खेल है—परम सुन्दर का खेल। यह विश्व भी उसी सुन्दर की मगलमय क्रीडा है। सच्चा शिल्पी शिक्षक नहीं अपितु अधिकाश खेल का साथी होता है।

ठीक इसी समय श्री नन्दलाल वसु वहाँ पधारे। उनकी ओर अपनी पुरानी लाठी से सकेत करते हुए शिल्पीगुरु कहने लगे—"इसके द्वारा अनुशिक्षित मत होना! इसे भी सदा सबके साथ खेलने दो! तुम इसके खेल के साथी बन जाओ और इस तरह उस दिव्य खिलाडी के साथी बन जाओ, जो सबका साथी है।"

'टन्-टन्-टन्' करके जलपान की घण्टी बजी और हम सब आवास की ओर लौट आये। मार्ग मे मेरे मन मे बराबर यही विचार आता रहा जैसे आज मै कोई तीर्थ-यात्रा करके लौटा होऊँ।

शान्तिनिकेतन के शिल्पगुरु—श्री नन्दलाल वसु

मानव के व्यक्तित्व के दो रूप है—एक कर्मकार और दूसरा शिल्पकार-कलाकार। कर्मकार के रूप मे वह अपने कर्म-कौशल से रोटी कमाता और आजीविका चलाता है। और शिल्पकार के रूप मे वह अपनी पैनी दृष्टि से विश्व के निगूढ सौन्दर्य को मूर्त्त-रूप प्रदान करता है। उसकी वे कृतियाँ सदा आनन्द देने वाली होती है। सच पूछा जाय तो मनुष्य की आत्मा ही शिल्पी होती है, प्रबुद्ध आत्मा ही यथार्थ मे सर्जक बन सकती है। बाकी इस मोहक और लोभी ससारस्थली मे अन्य लोग जो कि कलाकारो की श्रेणी मे परिगणित होते है, वे सभी बाज़ार मे चलने वाले जाली सिक्को की तरह होते है।

शातिनिकेतन के शिल्पगुरु श्री नन्दलाल वसु पावन और प्रशान्त प्रभावाले कलाधर है। वे आनुधिक भारतीय शिल्प परिपाटी मे प्राण-प्रतिष्ठा करने वाले शिल्पाचार्य श्री अवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रसिद्धतम शिष्यो मे से हे। इसके अतिरिक्त वे दक्षिणेश्वर के उस प्रभुभक्त सत रामकृष्ण परमहस के भी एक दीक्षित शिष्य है—यह बात बहुत कम लोगो को ज्ञात है। इसी कारण नन्दबाबू उस अद्भुत मादकता मे निमग्न रहते है, जिसे रहस्यवादी लोग 'उन्मत्त चेतना'—'Drunken consciousness'—कहते है। उनके चित्त मे वह 'दैवी नम्रता' विद्यमान है, जिसमे व्यक्ति प्रभु के प्रति अपनी अकिंचनता के भाव को सदा जाग्रत् रखता है।

नन्दबाबू की इस दिव्य नम्रता के विषय मे एक घटना उल्लेखनीय है। एक बार एक सभावित अतिथि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की स्वप्नभूमि और प्रयोग स्थली—शातिनिकेतन आश्रम—को देखने के लिए आये। इस शातिनिकेतन मे ही गुरुदेव ने नन्दबाबू को कला-मन्दिर का प्रधान पुरोहित बनाया है। अतिथि महोदय ने आश्रम की परिक्रमा करके सभी विभागो का अवलोकन किया। चित्रालय (Art Gallary) दिखाने के लिये ठिगने कद वाला, वर्गाकार कन्धें वाला, सादी पोशाक वाला, खुले मस्तक वाला, नगे पैर वाला, उपनेत्र वाला, उज्ज्वल मस्तक और तेजस्वी नयनों वाला एक व्यक्ति अतिथि को मार्ग-दर्शन कराने लगा। पथदर्शक ने

क्रमशः चित्रो का परिचय कराया और चित्रकारो के नाम से भी प्रेक्षक को परिचित किया। पथदर्शक ने केवल अपने बनाये हुए 'शिव का नृत्य' नामक चित्र का प्रेक्षक अतिथि को परिचय नही दिया। प्रेक्षक उस चित्र के आकर्षक सौन्दर्य को निहार कर मुग्ध-सा रह गया तथा चित्रकृति के रचयिता का नाम पूछना भी भूल गया!

शातिनिकेतन के अतिथिगृह से बोलपुर स्टेशन के लिए बिदा होते समय आगन्तुक ने मुझ से वार्तालाप करते हुए कहा—इस ज्ञानतीर्थ को निहार मैने अपार आनन्द पाया है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के साथ यह वार्तालाप, छात्रो की वह मनोमुग्धकारी सगीत-गोष्ठी तथा कलाभवन मे रगो की वह मनोहर मजलिस, मुझे चिरकाल तक प्रमोद, प्रसाद और प्रेरणा का मानसिक भोजन देती रहेगी। परन्तु खेद का विषय है कि मै शिल्प-स्वामी नन्द बाबू से नही मिल सका।

'आपने उन्हे ज़रूर देखा है' मैने उत्तर दिया —'वे श्री नन्द बाबू ही थे, जिन्होंने गत अपराह्न काल मे आपको चित्रशाला के चित्रो का परिचय कराया था।'

प्रेक्षक महोदय के विस्मय का ठिकाना न रहा। उनको इस बात का बडा अनुताप रहा कि वे उस विश्रुत और विनम्रचेता शिल्पकार को नहीं पहचान सके! सच तो यह है कि नन्द बाबू आत्मगोपनशील व्यक्ति हैं, और सच्चे गुणी कलाकार की यही विशेषता होती है कि वह कला की प्रतिष्ठा चाहता है। उसे अपने सम्मान की परवाह कम ही होती है!

नम्रता तो नन्द बाबू का प्रधान गुण है, उनके चरित्र का आभूषण है। आजकल के आत्म-प्रचार लोलुप शिल्पियो के लिए उनका यह गुण कितना अच्छा बोधपाठ है।

नन्द बाबू का जन्म सन् १८८३ मे दरभगा राज्य के खडगपुर ग्राम मे हुआ था। इनके पिता जी राज्य के एक कुशल इञ्जीनियर थे। वे अपनी सत्यता और साधुता के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। वे अपने अवसान के समय अपने बालको को "अपना बहिरंग और अन्तरंग सदा पवित्र

रखने के लिए" अनुशासन कर गये थे। नन्द बाबू की माता भी बडी धार्मिक और भक्तिपरायणा महिला थी। नन्द बाबू को हस्तकौशल और प्रभु-प्रीति के सद्‌गुण अपने माता-पिता से उत्तराधिकार मे मिले है। नन्द बाबू कॉलेज मे उपस्नातक श्रेणी की पढाई तक पहुँचे होगे कि उनके भविष्य निर्माण के जीवन देवता गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने उनको ग्रथ शिक्षा छोडकर तूलिका की तालीम प्राप्त करने को प्रेरित किया। उन्ही की उपकारी प्रेरणा का यह परिणाम हुआ कि नन्द बाबू शिल्पस्वामी अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के निकट सपर्क मे आये। उसके कुछ वर्ष पूर्व ही अवनीन्द्र बाबू भी भारतीय कला को पाश्चात्य शिल्पकारो के अन्धानुकरण से बचाने की सुदिशा और सत्प्रेरणा प्राप्त कर चुके थे। इस समस्त दिशादर्शन और सत्यप्रेरणा का श्रेय एक सहृदय अग्रेज महानुभाव को है जो कि उन दिनो कलकत्ते की सरकारी कलाशाला के प्रिन्सिपल थे। भारतवर्ष मे आधुनिक कला जागरण के इतिहास मे गुरु और शिष्य (श्री० ई० बी० हैवल और श्री अवीन्द्र बाबू) का यह सम्मिलन एक महत्त्वपूर्ण और युगप्रवर्तक घटना है।

इस छात्रकाल मे अवनीबाबू के तेजस्वी प्रभाव के नीचे नन्द बाबू की केवल कला और सौन्दर्य विषयक प्रसुप्त शक्तियो ने ही अपना विकास साधा हो ऐसा नही। दक्षिणेश्वर की छाया मे उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियो ने भी बहुत विकास सिद्ध किया। इस प्रकार नन्द बाबू के भाग्य-विधायक प्रभु ने मानो उनके अन्दर इस सचाई को प्रकाशित करके बताया कि कला और धर्म-जीवन रूपी ढाल के दो पार्श्व है। आगे जाकर यही सचाई शातिनिकेतन की शान्त एकान्त छाया मे पल्लवित और पुष्पित होने लगी। नन्द बाबू कलकत्ते की उस द्रव्यपूजक, प्राणपीडक और कोलाहल-पूर्ण राजधानी को छोड़कर कवि ऋषि रवीन्द्रनाथ के शान्त पावन तपोवन मे आ गए। कोई बीस वर्षो से नन्द बाबू विश्वभारती के कलाविभाग के सचालक हैं। उनके शातिनिकेतन आ जाने से कवीन्द्र की चिरवाछित इच्छा पूरी हुई। शातिनिकेतन आकर नन्द बाबू ने केवल वहाँ की कला और सौदर्य-दृष्टि को ही प्रोज्ज्वल और प्राणवान् नही बनाया। साथ ही

उन्होने गुरुदेव के बनाये हुये नाट्यप्रबन्धो के अभिनय के लिए वहाँ के नाट्यमञ्च को भी अपनी प्रतिभा और कल्पना के रङ्गो से अनुरञ्जित और अनुप्राणित किया है।

कलाकार और कलाशिक्षक के रूप मे उनके अपने ध्येय को समझने के लिये यहाँ उचित है कि उनके अपने शब्द प्रयुक्त किये जायँ। कुछ वर्ष पूर्व इस विषय मे अखबारो मे नन्द बाबू ने अपना अभिमत निम्न-लिखित शब्दो मे प्रकट किया—

"हम अज्ञात की ओर प्रयाण कर रहे हैं, क्योकि केवल वर्त्तमान ही हमारे लिए सत्य है—अतीत और भविष्यत् नही। हम भारतीय हें क्योकि हम भारत की आत्मा को पाने के लिए प्रयत्नशील है। शैली और रीतियो की परवाह न करते हुए हम लोग प्राणवान् का स्वागत करते हैं, हम उसे श्रद्धापूर्वक स्वीकार करते है, जिसे हमारे पास आनेवाले, हमारे लिए लाते है।

इसी कारण हम रीति और विधान को अधिक महत्त्वशाली नही समझते। हम जीवन की पूजा करते हैं, प्राण की उपासना करते है, जो कि जीवित की आत्मा है।

हमारा अतीत हमे प्रेरणा देता है। प्रकृति हमे प्रेरणा देती है। विश्व के पुरातन अनुभव हमे मार्ग-दर्शन कराते हैं।

हमने अपने आन्तरिक आनन्द को प्रकट करने का प्रयत्न किया है—क्योकि जीवन के आनन्द के प्रकटीकरण का नाम ही कला है।"

उपर्युक्त शब्दो मे उपनिषद् के सदेश की प्रतिध्वनि गूँज रही है, जिस ध्वनि को नन्द बाबू ने अश्रान्त साधना द्वारा अपने जीवन मे अनु-प्राणित किया है।

नन्द बाबू की सर्जक कला और उनके दैनिक आचार का ध्यानसूत्र है—हम जीवन की उपासना करते है, प्राण की पूजा करते है। इसीलिए वे वास्तववाद के विरुद्ध है। अपने छात्रो के प्रति नन्द बाबू का मुख्य आदेश यही रहता है कि आकृति के पीछे रहने वाले आत्मा को, भाव को

देखने का प्रयत्न करो। घटना के पीछे रहने वाली यथार्थता को निहारो। सामान्य के पीछे रहने वाले विशेष को पहिचानो। इस विषय मे दो प्रासगिक घटनाएं यहाँ प्रस्तुत की जाती है।

एक नवागन्तुक विद्यार्थी—प्रत्येक नये छात्र के मन मे इसी प्रकार का प्रश्न बहुधा जागता है—ने नन्द बाबू से पूछा कि वह किस विषय को लेकर चित्राकन करे। नन्द बाबू तुरन्त बोले—"जो भी विषय तुम्हारे नयनो के सामने आए, उसका अकन कर सकते हो। यथा—पुष्प, पत्ता, गधा आदि!"

नवागत छात्र गुरु जी की ओर जरा विस्मय-दृष्टि से निहारने लगता है मानो वे कुछ परिहास कर रहे हो! शिल्पगुरु ने उसका मनोगत भाँप लिया। शीघ्र ही अपनी जेब से एक खाली कागज और पेन्सिल—जो कि उनकी जेब मे सदा मौजूद रहते हैं—निकाल कर समीपस्थ खेत मे चरते हुए एक गधे का जीवित रेखाकन (स्केच) कर बताया। छात्र चित्राकन को ध्यान से निहारता रहा। अकन समाप्त होते ही वह भावावेश मे बोल उठा—"मास्टर महाशय, क्या गधा इतना सुन्दर हो सकता है?"

"नि:सदेह, यदि किसी के पास अवलोकन की दृष्टि हो।"—गुरु जी ने उत्तर दिया। और इस प्रकार की आश्चर्यवाहिनी दृष्टि तो उनके पास प्रभूत मात्रा मे है। नन्द बाबू की इस विशिष्ट प्रतिभा के विषय मे कवि-गुरु रवीन्द्रनाथ ने अपनी 'शिल्पी के प्रति' नामक कविता मे अच्छा सकेत किया है:—

"हे चित्रकार, हे चिरयात्री, तुम आस-पास की सभी वस्तुओ पर अपनी दृष्टि का जाल फेंकते हुए चले जा रहे हो। उन दृष्ट वस्तुओ को तुमने रेखाओ मे अकित करके देश-परदेश भेज दिया है। यह जो कुछ भी, जैसा-तैसा भी है, वह तुम्हारी दृष्टि मे द्विज और चाण्डाल के भेद से विहीन है।"

प्रत्येक व्यक्ति के लिये नन्द बाबू तक पहुँचना बहुत सरल है, चाहे वह कलाकार हो या न हो। किसी भी मानवबन्धु के साथ असौजन्य और औदासीन्य को वे सहन नही कर सकते।

एकबार उन्होंने देखा कि एक उच्च पदाधिकारी व्यक्ति जो कि उनका मित्र था, तथाकथित बडे लोगो के साथ तो विशेष शिष्टता का व्यवहार करता था और छोटे लोगो के आतिथ्य आदि मे उपेक्षा रखता था। नन्दबाबू ने सोचा कि अनजाने मे ही इस प्रकार मनुष्यता का अपमान करने की अपने मित्र की इस वृत्ति का कुछ इलाज करना चाहिए। मित्र को ठीक राह पर लाने के लिए वे उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करते रहे।

एक दिन वह पदाधिकारी मित्र अपने कमरे मे बैठा हुआ कार्य निमग्न था। मकान के बाहर मैदान मे एक गधा खडा हुआ था। दुपहरी का समय था। अफसर महाशय अपने कागज पत्रो मे तल्लीन थे। नन्दबाबू ने अन्दर आकर सूचित किया कि एक प्रत्तक अतिथि उनसे मिलने के लिए बाहर प्रतीक्षा कर रहा है। इतना कहकर नन्दबाबू स्वय पिछले दरवाजे से चुपके से सरक गये। अफसर मित्र शीघ्र ही खडे हो गये और अपने वस्त्रो को व्यवस्थित करके बडे वेग से आगन्तुक के सत्कार के लिए बाहर निकले। बाहर जाकर उन्होंने क्या अनुभव किया होगा इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। परन्तु उन्होंने उस सकेत को ठीक प्रकार अवगत कर लिया जिसे वह विनोदप्रिय शिल्पी बताना चाहता था। इस घटना के बाद वह सभावित महानुभाव अपने व्यवहार मे बहुत विनयशील बन गये।

नन्दबाबू की विनोद चर्चा बहुत चोखी और परिष्कृत होती है। बहुधा उसमे एक बालक की-सी स्वाभाविक चपलता होती है। यह मनोहर विनोद-शीलता उनके स्केचो, चित्रो और ऑटोग्राफ सपुटो (स्वाक्षरी की पोथी) मे भी निहारी जा सकती है। विनोद के मजेदार मसालो से उनके कलाविषयक वार्तालाप और चर्चाएँ सुस्वादु बन जाती है। इसके सिवाय नन्दबाबू मे एक ओर यदि बालसुलभ वशवदता और प्रभावग्राहिता विद्यमान है तो दूसरी ओर एक प्रौढ और दक्ष पुरुष की सहज स्फूर्ति और तेज भी विद्यमान हैं। उनकी कला भी उनकी मानवता की तरह सर्वग्राही है। वे 'सुन्दर' के उपासक हैं—चाहे वह सौन्दर्य तत्त्व कही से

भी, आँखो की खिडकी से या कानो के झरोखे मे से होकर, उदात्त आत्मा के रूप मे, एक सुन्दर दृश्य के रूप मे, एक स्केच के रूप मे, या एक मधुर गीत के रूप मे, उनके पास आता हो।

यह एक विस्मय और दया का विषय है कि 'जिस पुरुष का समस्त व्यक्तित्व प्राणो के प्रबोध से तालबद्ध और तरङ्गित हो रहा है, उसने सङ्गीत विद्या नही साधी है। अन्यथा यह निश्चय है कि वे एक सिद्ध गायक बन सकते थे।

नन्द बाबू की कला कृतियो (विशेषत' बुद्धमहाभिनिष्क्रमण, उमा का सताप, शिव का विषपान पार्वती के लिए शिव का अनुताप, चैतन्य महाप्रभु आदि) को देखने से आत्मा को रसायन की मात्रा मिलती है, प्राण को प्रोत्साहन मिलता है, हृदय को एक अविस्मरणीय अनुभूति प्राप्त होती है।

सचमुच वे प्राणो के पूजक है और प्राण कभी पुरातन नही होते! इसीलिए हम कह सकते है कि नन्दबाबू शिल्पी के साथ-साथ योगी भी है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने नन्द बाबू को समर्पित एक कविता मे क्या ही उत्तम कहा है—

"तुम एक ऐसे मकान मे पैदा हुए थे, जिसके बाहर रङ्गो का रहस्य खडा होकर उसकी चौकसी कर रहा था। उस भवन मे बैठकर तुमने जीवन-पथ पर चलकर थके हुए यात्रियो को विश्राति के लिए एक रूप का घोसला बनाया! उसमे तुमने अपनी रेखाओ द्वारा 'सनातन आश्चर्य' को बन्दी कर दिया। भगवान् करे तुम्हारी तूलिका शङ्कर को आर्द्र जटा की तरह जीवन के जलो का स्रोत बनी रहे!"

भारत माता के इस तरह के शिल्प-स्वामी ने अभी हाल मे ही अपने जीवन की षष्ठी पूर्ति करके ६१ वें वर्ष मे पदार्पण किया है। प्रभु करें इस शिल्पऋषि को आर्य ऋषियो का 'शत शरदो' का तेजोमय आयुष्य प्राप्त हो और इनके कुशलकरो से आर्यशिल्प की विजय-वैजयती दिग्दिगन्त मे फहराती रहे।

रामानन्द बाबू

पहले-पहल मैने रामानन्द बाबू के बारे मे उस समय सुना, जब मै बम्बई के एक कालेज मे पढता था। पर उनसे मेरा सर्वप्रथम साक्षात्कार १९२५ मे ही हुआ, जब कि वे कविगुरु रवीन्द्रनाथ के अनुरोध पर कालेज के अध्यक्ष होकर शान्तिनिकेतन आये। उस समय मै कालेज का एक शिक्षक था। उनके आगमन के एक सप्ताह के भीतर ही हम लोग आन्तरिक रूप से उनके व्यक्तित्व का सम्पर्क और प्रभाव महसूस करने लगे। रामानन्द बाबू अनुशासन के बडे जबरदस्त हामी थे। हममे से बहुत से लोग आराम से, मनमाने ढग पर, काम करने के आदी हो चले थे। उन्होने आकर पहले-पहल इसका इलाज किया। एक बार मेरे एक सहयोगी से, जो प्रायः घण्टी बजने के बहुत देर बाद क्लास मे आया करते थे, उन्होंने बडे गम्भीर स्वर मे कहा—'देखिए, अनुशासन का पालन अनुशासन के ढंग पर ही होना चाहिए।' एक अवसर पर मुझे भी उनकी अनुशासन-प्रियता का अनुभव हुआ था।

एक बार विद्या-भवन के अध्यक्ष प० क्षितिमोहन सेन कलकत्ते की किसी साहित्यिक सस्था द्वारा कबीर पर भाषण देने के लिए आमन्त्रित किये गए। इस अवसर पर सभापति का आसन गुरुदेव ग्रहण करने वाले थे। पर किसी कार्यवश वे कलकत्ता जाने मे असमर्थ थे, अतः उन्होने मुझे बुलाकर कहा कि मै कलकत्ता चला जाऊँ तो क्षिति बाबू के भाषण के बाद कवि-रचित रहस्यवाद के दो-एक पद गा दूँ। चूँकि रामानन्द बाबू कालेज के अध्यक्ष थे, मै उनके पास पहुँचा और कहा कि मुझे एक दिन की छुट्टी दी जाय। उनके कमरे मे पहुँचकर मैने उनके पाँव छुए और मौखिक रूप से अपना आशय निवेदन किया। उन्होंने पूछा—'क्या आप अर्जी लिखकर लाए हैं?

'जी नही',—मैने उत्तर दिया—'मै गुरुदेव के आदेश से कलकत्ता जा रहा हूँ। मैने सोचा, आपसे कह-भर देना काफी होगा।'

'यह कभी नही होगा। पहले आप छुट्टी की अर्जी लिखकर मुझे दीजिए, फिर अपने किसी सहयोगी से ऐसी व्यवस्था कीजिए कि आपकी अनुपस्थिति मे वह आपका क्लास ले सके और तब मुझसे जाने की अनुमति लीजिए।'

फलतः मैने ऐसा ही किया, पर, जैसा कि मेरा स्वभाव है, मन मे मुझे अवश्य यह खटका कि इस जरा-सी बात के लिए ये नाहक मुझे इतनी जहमत उठाने के लिए क्यो मजबूर कर रहे हैं। पर जब मुझे मालूम हुआ कि अंग्रेजी-विभाग के मेरे अन्यतम सहयोगी साधु सी० एफ० एड्रूज भी— जो भूखो या पीड़ितो की सहायता के लिए सब-कुछ छोडकर, बिना किसी बात का विचार किये, दौड़ पड़ने के लिए विख्यात थे—कई बार रामानन्द बाबू की अनुशासन-प्रियता का शिकार हो चुके हैं, तो मेरा मलाल जाता रहा।

जब तक रामानन्द बाबू कालेज के अध्यक्ष के रूप मे शान्तिनिकेतन मे रहे—और दुर्भाग्यवश अनेक अनिवार्य कारणो से वे यहाँ ६ महीनो से अधिक नही रह सके—अक्सर वे अध्यापको के चायघर मे आया-जाया करते थे। कभी-कभी गुरुदेव भी यहाँ आया करते थे। यहाँ चाय पीते समय हम लोग अक्सर कालेज और देश-विदेश की सामयिक समस्याओ पर विचार-विमर्श किया करते थे। एक बार किसी सरकारी प्रकाशन के तथ्यो को लेकर एक अध्यापक रामानन्द बाबू से उलझ पडे। रामानन्द बाबू ने बड़े शिष्ट एवं संयत भाव से उसका सही रूप रखा, किन्तु अध्यापक महोदय ने उन पर विश्वास नही किया और अपने मत के समर्थन मे मे ही बहस करते रहे। इस पर रामानन्द बाबू चुपचाप उठे और पास ही मे स्थित पुस्तकालय से आलोच्य सरकारी प्रकाशन लाकर वे पृष्ठ खोलकर अध्यापक महाशय के सामने रख दिए, जिनपर रामानन्द बाबू द्वारा अनुमोदित तथ्य मुद्रित थे। इसपर अध्यापक महाशय को मुँह की खानी पड़ी।

पर 'माडर्न रिव्यू' के उस मेधावी सम्पादक की जितनी भी स्मृतियाँ मेरे दिमाग मे है, उनमे से एक वर्षा से बडी प्रबल हो उठी है। वह इस प्रकार है—एक दिन शायद अस्वस्थता के कारण, गुरुदेव शान्ति-निकेतन मे होनेवाली साप्ताहिक प्रार्थना नही करा सके। अतः उन्होने रामानन्द बाबू से प्रार्थना कराने का अनुरोध किया। वे तुरन्त आसन पर जा बैठ। जब सब लोग धीर-गम्भीर स्वर से गा रहे थे—'हे प्रभु, आप हमारे पिता है, मन-प्राण से हम आपको प्रणाम करते है, अपना चन्द्र-मुख हमसे कभी दूर न कीजिए' आदि तो मैने देखा कि रामानन्द बाबू के बन्द नेत्रो से आँसू ढुलक रहे थे! इसके बाद उन्होने जो संक्षिप्त उप-देश दिया, उसके एक-एक शब्द मे मानो उनका हृदय उमड़ रहा था।

एक बार रामानन्द बाबू गुरुदेव के निवास-स्थान (उत्तरायण) के बग-मदे मे बैठे थे। कवि पास ही बैठे अपना साहित्यिक कार्य कर रहे थे। इसी समय एक आगन्तुक कवि के प्रति अपनी श्रद्धा निवेदन करने आया। उसने रामानन्द बाबू को ही रवीन्द्रनाथ समझकर उनके चरण छू लिए। इसपर रामानन्द बाबू ने हाथ जोडकर विनीत भाव से कहा—'मै वह व्यक्ति नही हूँ, जिससे आप मिलने आये हैं। मै तो आप ही को तरह एक सामान्य व्यक्ति हूँ। जिससे आप मिलने आये हैं, वे उधर भीतर हैं।'

स्वर्ग से शिल्पी*

भगवान् स्वर्ग के कक्ष मे अपने सिहासन पर आसीन थे। उनके मुख पर प्यार की परेशानी छाई हुई थी।

प्रधान देवदूत ने अपनी विनम्र दृष्टि ऊपर उठाकर जिज्ञासा की : "महिमामय को कौन-सा कष्ट है ?"

"मर्त्यलोकवासी अपनी सन्तानो के बीच फैली हुई बेसुरी और बेमेल फूट।"—भगवान् ने उत्तर दिया। "शान्ति की स्थापना के लिए मै अपने कुछ मन्त्रियों को नियुक्त करना चाहता हूँ। कर्म-समिति की एक आवश्यक बैठक बुलाने की व्यवस्था करो।"

देवदूत ने मस्तक नवाया और बाहर आकर मन्त्रियो का आह्वान करते हुए द्रुत-चपल सेवक को रवाना किया।

परमराजराजेश्वर के सिंहद्वार पर मेघो के मौन रथ चुपचाप आ-आकर रुक गए। जो उन पर बैठे हुए थे वे हलके पॉव से उतर कर उस विपुल कक्ष मे जा पहुँचे जहा भगवान् अपने नक्षत्र-खचित दीप्त आसन पर उनकी अपेक्षा करते बैठे थे।

"महिमामय की क्या आज्ञा है ?"—मन्त्रियो ने समवेत स्वर से निवेदन किया।

"मेरे प्रिय मन्त्रिगण ! कितने ही वसत बीते, अपने मानवीय कुटुम्बियों के बीच भेद और विसगति की खबरे बराबर मेरे कानो तक पहुँच रही है। उनके इस अनवरत विरोध का अन्त कर देने की गरज से मै तुममे से कुछ को मर्त्यलोक मे भेजना चाहता हूँ। अपने साथ विभिन्न विभागो के सहयोगियो को भी लेते जाओ जिससे वे तुम्हारे इस महान् श्रम मे तुम्हें कुछ सहायता पहुँचा सकें।"

---

* श्री नन्दलाल वसु, भारत के प्रख्यात शिल्पी की साठवी सालगिरह के मौके पर जो दिसम्बर महीने मे पडती है।

मन्त्रियो ने ध्यान मौन होकर गम्भीर श्रद्धा के साथ आलोकमय की वाणी सुनी। उनके नेता ने निवेदन किया, "राजराजेश्वर, कल सूर्य की प्रथम किरणें जिस समय मर्त्य प्राणियो के अधिवास के शिखरो को चूमती होगी, उसके बहुत पूर्व ही हमारा दल स्वर्ग से प्रस्थान कर देगा।"

"तुम्हारी सर्वान्तःकरण से शुभ कामना करता हूँ"—भगवान् ने कहा, "किन्तु अपने शान्तिकामी दल के सभ्यो मे एक शिल्पी को ले जाना मत भूलना। कारण, जब तक वे उसके सत्य के मधुर-सगीत को नही सुनेंगे और जब तक अपने-आपको उसके सुर के साथ मिलाकर एक नही कर रखेंगे—जिस तरह फूल की पखुड़ियाँ प्रकाश की अनुकूलता मे अपने को सँजो रखती हैं—तब तक तुम्हारे सारे प्रयत्न व्यर्थ होने के लिए बाध्य होगे!"

शिल्पी और साधक

सौन्दर्य के प्रति प्रेम शिल्पी का आराध्य है, और प्रेम का सौन्दर्य साधक का। दोनो की कामना और साधना जीवन को निर्वैयक्तिक दृष्टिकोण से देखना चाहती है, और ऐसा कुछ भी नही है, जिसे वह अपने हृदय मे स्थान न दे सके। हमारी बहुत-सी राहे हैं, जिनसे हम परिपूर्ण सत्य तक पहुँचने का प्रयास करते हैं। शिल्पी और साधक दोनो ही पूर्णता के तीर्थ-पथ के सहयात्री है।

साधक के जीवन की पवित्रता और शिल्पी के जीवन की छन्दोमयता—दोनो जीवन-वृत्त के दो अंश है, जो मिलकर ही परिपूर्ण होते हैं। वे परिधि के दो भिन्न बिन्दुओ से चलकर अन्त मे एक केन्द्र पर पहुँचनेवाले पथिक ही तो है। और जब पल-भर के लिए वे सचमुच ही मिलते हैं, तो हम उनके पथ के अलगाव को तो भुला ही देते हैं, साथ ही उस सुन्दर क्षण के दर्शन पाते हैं, जिसमे राहगीरो की नजरे चुपचाप मिलती हैं, उनके दिलो मे खुशी की लहरे दौडती है और दोनो एक-दूसरे को पहचानकर मालूम करते है कि वे अलग ही कब थे?

राह जहाँ चुकती है, पथ का जहाँ परिशेष हैं, वृत्त का जहाँ केन्द्र है, वहाँ झगडा नही है। वहाँ तो परस्पर की सहज स्वीकृति है। लेकिन इतनी सकीर्ण होती है हमारी दृष्टि की परिधि कि हम बार-बार काठ को ही वृत्त समझ लेते हैं, अश को ही समग्र मान लेते हैं, व्यष्टि को ही व्यापक मानवता कहकर स्वीकार कर लेते हैं। दृष्टि की यह ऐकान्तिकता इसीलिए अक्सर हमारी आँखो मे द्रोह और दुराग्रह का रगीन चश्मा पहना जाती है।

शिल्पी और साधक को भी यही कहानी है। समाज साधक का सम्मान करता है, किन्तु शिल्पी के लिए उसके हृदयासन पर यदि एक-

बारगी जगह का अभाव न भी हो, तो ऊँची जगह की कमी रहती ही है। साधक भी कभी-कभी सोचने लगता है, मानो शिल्पी किसी स्वप्न-लोक का ही प्राणी है, मानो वह केवल किसी रस-लोक मे—अबाध भोग के कल्पित ससार मे ही विचरण करता है, कर्म-जीवन से मानो उसका कोई नाता ही नही। यहाँ शिल्पी भी साधक के उलझे वेश और अस्त-व्यस्त बहिरग के रूखेपन के भीतर सरल शुभ्रता, सरस हृदय की पवित्र सुन्दरता और स्निग्ध उदारता को देख नही पाता। 'जो दिखाई देता है वह माया है', 'जो कान्त है वह जरूरी नही कि सोना ही हो'—यह सब हम मुँह से तो बहुत बार दुहरा जाया करते है, किन्तु पल-भर बाद ही अवसर आने पर हम मनुष्य को उसकी बाहरी रूपरेखा से ही जाँचने लग जाते है, उसकी चमक-दमक से ही उसका मूल्य आँकते सकोच नही करते।

हो सकता है कि शताब्दियो की परम्परा के कारण सन्त और साधक को जनता ने हमेशा सम्मान के उच्चासन पर बिठाया है, और कभी फूलो से, तो कभी 'पुष्पिता वाक्य' से उसकी पूजा की है। कानून मे राजा के समान सन्त कभी भूल कर हो नही सकते, लेकिन शिल्पी बेचारे के लिए यह सौभाग्य सहज ही सुलभ नही है। कठिन आलोचना की वेदी पर उसका आए दिन बलिदान हुआ करता है। यही बहुत है, जो पुराने समय के समान उसे भेडिये की माँद मे निर्वासित नही कर दिया जाता, उसके मास से जगल के बाशिन्दो की दावत नही होती।

आखिर क्यों? क्या इसीलिए कि उसके व्यवहार और ढग हमारे अभ्यस्त और सस्कार-सम्मत तरीको के भीतर बन्दी होना नही चाहते? जो लोग प्रचलित प्रथा के प्रवाह मे बिना हाथ-पैर चलाए बहते चलने को ही जीवन की सबसे बडी सार्थकता समझते है, वे शिल्पी को उसकी इसी अनभ्यस्त और सस्कारातीत प्रणाली के कारण पागलखाने के लायक समझते है। उनके लिए सत्य को भुला देना सहज होता है—फिर चाहे अनजाने ही हो, क्योकि 'बिना जाने' भूल करने की उनकी जातीय आदत होती है। शिल्पी यदि परम्परा की उपेक्षा करता है, तो इसीलिए कि उस

उपेक्षा जो घेरकर अपनी असाधारण प्रतिभा का क्षेत्र तैयार कर सके। लकीर की फकीरी वह इसीलिए छोडता है कि जीवन के अनन्त छन्द के भीतर अपना निजी ताल खोज सके। इसके बिना वह छन्द मानो अधूरा रह जायगा।

साधक भी यदि सचमुच साधक है, तो परम्परा के पथ से हटकर क्रमशः अपनी अद्वितीय शक्ति के विकास तक पहुँचता है। अवश्य ही उसे असली हीरा होना चाहिए, क्योकि यदि बहुमुखी सत्य के उसने सचमुच दर्शन पाये है, तो वह अपने-आप ही सबसे निराला पड जायगा। सच्चे सन्त का कोई सम्प्रदाय नही होता। वह किसी तीर्थ मे बैठकर धूप नही जलाता और किसी की दी हुई गवाही पर ही सत्य को स्वीकार भी नही कर लेता। अपनी ही आँखो वह देखना चाहता है। वृन्दावन के शिल्पी-साधक की तरह ही मानो कह सकता है :—

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।

शिल्पी जिस 'कल्पना' की रगीनी बुनता है, वही सन्त की आँखो का 'प्रकाश' कहलाती है। शिल्प और अध्यात्म एक ही सिक्के के दो पहलू है : शिल्प के भीतर भागवत् तत्त्व का सौन्दर्य बिखरा हुआ होता है और अध्यात्म भागवत् सौन्दर्य के तत्त्व को प्रकाशित करता है। दोनो मे आनन्द का आविर्भाव है। इसी से कवि कीट्स सत्य और सुन्दर को एक कहकर गा गये हैं। कारण, दोनो ही शाश्वत आनन्द के प्रकाश हैं।

इतना ही नही, शिल्प तथा अध्यात्म दोनो के सहारे शिल्पी और साधक अपनी सीमित सत्ता के घेरे से बाहर निकलकर सम्पूर्ण विश्व के छन्द के साथ एक हो पाते हैं। बन्दी-प्राण मानो उन्मुक्त आकाश की पुकार सुनकर फिर घर मे बन्दी नही रह पाते। इसीलिए दोनो ही समान भाव से हमारी श्रद्धा और सम्मान के योग्य है।

उस परम स्रष्टा के विशाल भवन मे वातायनो की कोई सख्या है? तब क्या हुआ अगर उस पुरानी कहानी के समान सत्य की ढाल पर कुछ सफेदी ही पोती जाय और कुछ मे इन्द्रधनुष के वर्णों का इन्द्रजाल बिखर

पड़े। रग से आखिर क्या आता-जाता है, यदि वातायन हमे स्रष्टा की झाँकी दिखा सके ?

कैसी अजब पहेली है कि इतिहास मे ईसा और बुद्ध के समान मन्त सदियों से युग के सर्वश्रेष्ठ शिल्पियो को सौन्दर्य की सबसे महान् प्रेरणा देते आए हैं। क्या यह सम्भव नही है कि विकास का पहिया घूमकर उस भविष्य की ओर हमे ले जाय, जिसके आभास के द्वार पर हम आज आ खडे हुए हैं और कौन जानता है, उस युग मे शिल्पी ही मानव-जीवन के परम पुण्य स्रोत का अशेष उत्स नही होगा ?

'दीन ही धन्य है' क्योंकि वे ही भगवान् को देख सकेंगे।' शिल्पी की आत्मा उसकी तूलिका और रंग से ही उज्ज्वल होती है, साधक की आत्मा भी उसके बलिदान से रक्तरजित होकर शुभ्र हो उठती है। सबके अन्त मे एक ही सूर्य का आलोक शिल्पी और सन्त दोनो की सृष्टि और चरित्र को उद्भासित कर देता है। तब दोनो के कण्ठ मे एक ही प्रार्थना जाग उठती है—'अपनी शान्त दीपशिखा के आश्रय मे मुझे सुला दो, हे मौन अग्नि के स्वामी! मेरे अन्तर को धोकर आत्मा की निविड़ इच्छा को पवित्र कर दो। प्रभात-सूर्य की ज्वाला मे मेरे चित्त को सम्पूर्ण नहला दो, हे मौन अग्नि के स्वामी, जिससे प्राणो की निविड़ कामना जाग उठे, तब उसकी आँखें तन्द्रा से आविल न रहे—वे स्वच्छ हो!'

Lay me to sleep in sheltering flame
O master of the Hidden Fire!
Wash pure my heart and cleanse for me
My soul's desire.
In flame of sunrise bathe my mind,
O Master of the Hidden Fire!
That, when I wake, clear-eyed be
My soul's desire

—William Sharp

मानव का पुनर्निर्माण

पुनर्निर्माण प्रकृति का एक बड़ा कानून है। इसीलिए तो उसमे हमेशा एक प्रकार की ताजगी रहती है, और एक मिसाल के तौर पर प्रतिदिन का सूर्योदय कभी भी पुराना नही मालूम होता। मगर मनुष्य के जीवन मे कई बार जडता दिखाई देती है। इसका क्या कारण है? क्या वह प्रकृति से कुछ कम है? क्या वह पुरुप की सन्तान नही है? अगर है, तो उसे प्रकृति के कानून पर भी अपनी आत्मा के बल और बुद्धि द्वारा काबू पाना चाहिए। मगर उसके बजाय वह प्रकृति का दास बनकर रहता है।

मनुष्य मे जो प्रकृति का अंश है, उस पर काबू पाने से ही वह अपने जीवन मे ताजगी ला सकता। जैसे प्रकृति की ताजगी का मूल कारण छन्द है, वैसे ही मनुष्य को अपना जीवन छन्दमय बनाना चाहिए। ज्यो ही यह छन्द टूटा कि उसकी जिन्दगी नीरस बन जाती है। तो सवाल उठता है कि इस छन्द की रचना कैसे हो? यह काम—असल मे न तो इन्द्रियो का है और न मन का ही। यह है उसकी आत्मा [illegible] म।

इसका मतलब यह हुआ कि अपना जीवन छन्दमय बनाने के लिए मनुष्य को चाहिये कि पहले वह अपनी आत्मा को पहचाने, क्योकि अपने अनुभव से उसने बार-बार देख लिया है कि उसका मन उसे हमेशा मदारी की तरह नचाता है, जब तक कि उस मदारी के गले मे आत्मा या बुद्धि एक रस्सी नही डाल देती। इस दृष्टि से अगर देखा जाय, तो आजकल मनुष्य का जीवन जो इतना जड़मय बन गया है, उसका कारण उसका आत्म विस्मरण है। इसलिए अगर वह अपने-आपका पुनर्निर्माण करना चाहता है, तो उसके लिए जरूरी है कि वह खोये हुए मोती की फिर से तलाश करे।

एक बात का उसे ख्याल रहे कि यह पुनर्निर्माण किसी टूटे हुए या नये मकान बनाने की तरह नही है—यानी किसी नक्शे के अनुसार ईंट-पर-ईंट रखकर नही किया जा सकता। यह तो एक वृक्ष के उगने की तरह है, जो अपने नियम या छन्द के अनुसार ही बडा होगा। या यो कहिये कि मनुष्य का पुनर्निर्माण बिजली के 'स्विच' दबाने की तरह है। 'स्विच' दबाते ही अन्धकार दूर हो जाता है और कमरे मे जो चीजें पडी होती हैं, उनका एक दूसरे के साथ जो सम्बन्ध है, वह साफ जाहिर हो जाता है। मनुष्य की आत्मा का पहचानना इसी 'स्विच' की तरह है, और जैसे 'स्विच' खुद-ब-खुद तो बिजली पैदा नही करता, मगर उसका जो तार बिजली घर से लगा हुआ है, वह बिजलीघर से उसे रोशनी पहुँचाता है, वैसे ही यदि मनुष्य की आत्मा का तार परमात्मा से लगा रहे, तो उसके जीवन-गृह मे हमेशा रोशनी-ही-रोशनी रहेगी।

मगर आत्मा की पहचान मे कई मुश्किले हैं। सबसे बडी मुश्किल है लोभ। और यह लोभ काम, कचन, कामिनी, कीर्त्ति आदि के रूप मे बहुरूपिया है। और यह लोभ ही है, जो जीवन का छन्द तोड देता है। तो फिर लोभ-वृत्ति कैसे दूर की जाय? इसका तो एक ही तरीका है, जो ईशोपनिषद् मे दिया हुआ है और जिस तरीके पर अमल करके गाधी जी महात्मा बने, रवीन्द्रनाथ गुरुदेव बने, श्री अरविन्द ऋषि बने और श्री रमन मुनि बने—अर्थात् जो-कुछ इस जगत् मे है, वह प्रभु का है। इसलिए किसी वस्तु को अपना मत समझो, उसे एक अमानत समझो, अमानत की तरह उसे इस्तेमाल करो और दूसरो के धन का लोभ मत करो।

इस सत्य का स्वरूप समाजवाद है। इसलिए जो आत्मा को पहचानते हैं और अपने जीवन तथा उसकी सब अमानतो को प्रभु का दान समझते है। वे अपना सब-कुछ औरो को बाँटते हैं। वे 'कगाल राजा' है! हो सकता है कि समाजवाद के सिद्धान्तो के पीछे यही भावना रही हो। आत्मा को पहचानने वाले आनंद को पा कर कहते है—'ब्रह्म

आनन्दम्!' मगर रोटी-कपड़ा पा कर मजदूर पुकार उठता है—'ब्रह्म अन्नम्!' अन्त मे दोनो ब्रह्म को पहचानने लगते है। अगर अन्न-वस्त्र पा कर एक मजदूर अपने-आपको भी पहचानने की कोई साधना करे—लोभ न करे, सच्ची तालीम हासिल करे, सत्सग करे—तो वह एक सच्चा समाजवादी या सन्यासी बन सकता है। मगर आत्मा को पहचानने के लिए या जीवन का पुनर्निर्माण करने के लिए मनुष्य को दैनिक जीवन मे एक ही मन्त्र जपने की जरूरत है। उसकी हर एक वृत्ति, विचार, क्रिया आदि 'शिवमुखी' होनी चाहिए, न कि 'अहमुखी'।

तंदुरुस्ती की तद्बीर

'जीवन-साहित्य' के दो पहलू हैं : एक जो शिव को समझने मे सहायता देता है और दूसरा जो जीव को 'शिव' का एक सच्चा सेवक बनाने मे मददगार होता है और जीव तो तभी एक सच्चा सेवक बन सकता है जब वह तन्दुरुस्त हो, इसीलिए तो कहते हैं, "तन्दुरुस्ती हजार नियामत है।"

मगर इस भगवान् की बख्शीश को सॅभालने का तरीका पहले जानना चाहिए। इस बारे मे एक कहानी मुझे याद पडती है। कुछ बरस पहले अमरीका के एक विश्वविद्यालय के एक अध्यक्ष करीब चालीस वर्ष तक विश्वविद्यालय का काम करके निवृत्त हुए। इन चालीस बरसो मे वह एक दिन भी अपने काम से गैरहाजिर नही रहे। उनके विश्वविद्यालय से विदा होने के अवसर पर उनके विद्यार्थियो ने उन्हे एक मानपत्र दिया, जिसमे अध्यक्ष महोदय के अनेक गुणो—दिली और दिमागी दोनो—का वर्णन था। मगर उस मानपत्र मे अध्यक्ष महाशय से एक विशेष प्रश्न भी पूछा गया था—"क्या आप कृपया हमे यह बतायेंगे कि आप इतने वर्षों तक अपना शरीर इतना तन्दुरुस्त कैसे रख सके है?" अध्यक्ष महोदय ने मानपत्र का जबाब देते हुए इस प्रश्न का भी उत्तर दिया। वह उत्तर यह था, "Every day I study carefully my bowels and the Bible।" (अर्थात्—मै हर रोज बडी सावधानी से अपने पेट और धर्मशास्त्र का अध्ययन करता हूॅ।) तन चगा तो मन चगा, मन चगा तो तन चगा।

यह है तन्दुरुस्ती की एक तद्बीर। एक और भी तद्बीर है। वह यह कि शरीर बिगड़ने पर फौरन हस्पताल के डाक्टर के दर्शन नहीं करने चाहिए, बल्कि दो और डाक्टर है जिनकी सलाह लेनी चाहिए।

इन डाक्टरो के नाम है—Doctor Diet and Doctor Quiet. (अर्थात् डाक्टर खुराक और डाक्टर खामोशी) खुराक बदलने पर और चुपचाप रहने से बहुत-सी छोटी-मोटी बीमारियाँ खुद ही दुम दबाकर भाग जाती हैं।

एक तीसरी तदबीर भी है। कहते है, पैगम्बर मोहम्मद साहब की एक हदीस है जिसमे आप फरमाते हैं, "जो अपनी जीभ और जननेन्द्रिय को सभालकर रखता है उन पर काबू रखता है वह स्वर्ग मे प्रवेश करने का अधिकारी है।" स्वर्ग अतिशय सुख का एक प्रतीकमात्र है और सुख का एक अश तदुरुस्ती है। इसलिए जो अपने जबान के जायके पर और जननेन्द्रिय पर काबू रख सकता है वह तन्दुरुस्ती हासिल कर सकता है।

तो क्या सब कुछ तदबीर से ही जीवन मे होता है? क्या तकदीर कुछ भी नहीं? इन प्रश्नो का जवाब दार्शनिक बन्धु ही दे सकते हैं। मगर जीवन की शाला मे बारबार ऐसा सबक पढाया गया है कि बहुत दफा तदबीर ही तकदीर है।

आबादी या बरबादी ?

१९४२ में जब प्रख्यात अमरीकन पत्रकार लुई फिशर भारतवर्ष मे आये थे, तब वे एक हफ्ते के लिए सेवाग्राम मे रहे थे। उस वक्त हर रोज वे एक घण्टा गाधी जी से जुदी-जुदी समस्याओ पर सवाल-जवाब करते थे। ऐसी ही दैनिक बातचीत के दौरान मे एक दफा लुई फिशर ने गांधी जी से भारतवर्ष की सबसे बडी समस्या—उसकी आबादी में वार्षिक वृद्धि (करीबन ५० लाख प्रतिवर्ष !)—पर एक प्रश्न किया—"आप इस समस्या को किस तरह हल करना चाहते हैं ?"

गांधी जी ने उत्तर दिया—"आपके प्रश्न का एक जवाब संतति-सयम हो सकता है, मगर मै उसके विरोध में हूँ।"

इस पर लुई फिशर बोल उठे—"मगर मै तो नही हूँ। परन्तु हो सकता है कि भारतवर्ष-जैसे देश मे, जो अब तक कई बातों मे पीछे है, संतति संयम का प्रयोग बहुत सफल न भी हो।"

"तब तो शायद हमे कुछ सामूहिक बीमारियो की जरूरत होगी।"—गांधी जी ने हँसते हुए जवाब दिया।

फिर लुई फिशर ने गाधी जी को बतलाया कि सोवियत रूस में अकाल, सामाजिक बीमारियो आदि के बावजूद जनसख्या बहुत तेजी से बढ़ती गई। आखिरकार बोल्शेविक लोगों ने १९२८ मे कुछ आर्थिक उपायों को काम मे लाया।

यह सुनकर गाधी जो ने कहा—"तो आप मुझ से क्या यह मनवाना और कहलाना चाहते हैं कि हमे भी भारतवर्ष मे उद्योगीकरण तेजी से करना होगा ? मगर मै यह बात मानने के लिए हरगिज तैयार नही हूँ और इसके लिए मुझे कोई मजबूर भी नही कर सकता।"

फिर लुई फिशर ने गाधी जी से भद्र-अवज्ञा के बारे मे कुछ सवाल

पूछे। मगर कुछ वक्त गुजरने के बाद एक बार फिर उन्होने जनसख्या में अतिशय वृद्धि का उल्लेख किया। उस पर गाधी जी ने केवल इतना ही कहा—"अगर बड़े पैमाने पर उद्योगीकरण होगा, तो सरकार को जरूर ही इस तरीके मे अग्रदूत होना होगा।"

गाधी जी के इन शब्दो का क्या मतलब है? उन्होने कौन-से तरीके का उल्लेख किया? क्या यह हो सकता है कि उनके मन मे जो विचार उस वक्त था, वह कुछ इस किस्म का था यदि भारतवर्ष मे बडे पैमाने पर उद्योगीकरण हुआ, तो सरकार को जनसंख्या मे वृद्धि के बारे मे सतति-सयम का विचार करना होगा—केवल इतना ही नही, बल्कि उसे लोगो को रास्ता भी दिखलाना होगा? या गाधी जी के शब्दो का तात्पर्य यह है कि उद्योगीकरण के संबध मे सरकार को ही अग्रदूत होना होगा? आशा है, गाधी जी के जो अग्रशील अभ्यासी है, वे इस बात पर कुछ रोशनी डालेंगे। मगर जो भी हो, सतति-संयम और उद्योगीकरण का परस्पर क्या सबध है, यह भी विचारणीय है।

गाधी जी सतति-सयम के विरोध मे थे भी और नही भी—नैतिक रास्तो से वे सतति संयम जरूर चाहते थे, मगर बनावटी साधनो से नहीं। अब सवाल तो यह है कि सतति-सयम का नैतिक उपाय कितने लोग कर सकते हैं? इस बारे में एक बात याद आती है। करीबन २५ बरस पहले गाधी जी के नैतिक उपायो पर जोर देने का उल्लेख करते हुए गुरुदेव ने एक बार कहा था—"नैतिक उपाय तो सबसे उत्तम है, मगर जब मनुष्य वह नही कर पाता, तो उसे वैज्ञानिक, बनावटी साधनो का इस्तेमाल करने मे कोई सकोच नही होना चाहिए। आबादी मे बहुत जल्दी-जल्दी वृद्धि न हो, असली सवाल तो यह है। अगर आबादी बढती जायगी, तो वह एक बरबादी का कारण होगी। उस बरबादी से बचने के लिए जैसे हम और कई वैज्ञानिक उपायो का सहारा लेते हैं, वैसे ही सतति-सयम के बारे मे भी हम विज्ञान की मदद ले सकते हैं।"

मगर लुई फिशर ने यह क्यो कहा कि हमारे देश मे यह प्रयोग

सफल नही होगा ? यह प्रयोग शायद इसलिए सफल नही होगा कि हमारे देश के लोगो को वैज्ञानिक साधनो का ठीक तौर से इस्तेमाल करना नहीं आता, या शायद इसलिए कि उन साधनो की कीमत इतनी अधिक है कि वे उन्हे खरीद नहीं सकते ।

अगर ऐसा है, तो भारतवर्ष मे आज भी गाँवो मे ऐसी माताएँ हैं, जो सतति-सयम का बहुत सस्ता कृत्रिम तरीका जानती हैं । इसके अलावा जो रूढिवश धर्म का चुस्त पालन करते हैं, वे जानते हैं कि कौटुम्बिक व्यवहार मे सदियो से कई ऐसे सिद्धान्त चले आए हैं, जिनके परिणाम-स्वरूप संतति-सयम सहज ही हो सकता है । और अगर इन सिद्धातो या दम्पति-जीवन के धार्मिक उसूलो के साथ-साथ लोगो के लिए सास्कृतिक-आनद पाने के साधनो का भी प्रबध किया जाय, तो संतति-संयम की कठिनाई भी कुछ कम हो सकती है । मगर जो सबसे ज्यादा जरूरी बात है, वह यह कि लोगों को काम मिलना चाहिए, जिससे वे अपने मनुष्यत्व का पूरा-पूरा खयाल रख सकें । खुराक तो कुदरत दुनिया को हमेशा उसकी भूख को मिटाने के लिए देती ही रहती है । हाँ, उस अन्न का संग्रह करने का अधिकार किसी व्यक्ति या सरकार को कभी भी नहीं होना चाहिए ।

युद्ध के बीच शान्ति

कहा जाता है कि एक बार किसी ने गाधी जी पर यह कहते हुए फबती कसी थी कि वे सत्य और अहिंसा की साधना पर व्यर्थ ही इतना जोर दे रहे हैं, जब कि चारो ओर दूसरे महायुद्ध की विभीषिका मे ससार के विभिन्न रगमचो पर हिसा का ऐसा नग्न प्रदर्शन किया जा रहा है। गाधी ने इसके उत्तर मे केवल इतना ही कहा था कि 'अहिसा की सचाई हिसा की पृष्ठभूमि मे ही परखी जा सकती है, फिर वह हिसा चाहे कितनी भी रक्तरजित क्यो न हो।

अभी उस दिन जब एक मित्र ने आगामी 'विश्व-शान्तिवादी' सम्मेलन के शान्तिनिकेतन और सेवाग्राम मे होने वाले दोनो अधिवेशनो की चर्चा करते हुए उनकी उपयोगिता के विषय मे सन्देह जाहिर किया, तो मुझे बरबस गाधी जी के उक्त उत्तर की याद हो आई। स्पष्ट है कि जब आग लगी होती है, तभी हम अपने जलाशय की दशा सुधारने का खयाल करते हैं, या भविष्य मे फिर कभी अग्निकाड न घटित हो, इसके लिए ठीक-ठीक रखने की आवश्यकता को महसूस करते हैं।

आगामी दिसम्बर महीने मे जिस सम्मेलन का आयोजन किया जा रहा है, उसका विचार 'सोसाइटी आव् फ्रेण्ड्स' या क्वेकर-सम्प्रदाय मे पहली बार जगा था और गाधी जी ने उस पर तत्काल अपने अनुमोदन की मोहर लगा दी थी। इस सम्मेलन का उद्देश्य और कुछ नही, केवल उन गिने-चुने साधको को एक बार मिलने का मौका देना है, जिन्होने आजीवन अपने-अपने ढग से अपने अपने देशो मे आग बुझानेवाले जलाशय की राह अपनाई है।

हरएक देश मे ऐसे कुछ मुट्ठी-भर व्यक्ति या व्यक्तियो की टोलियाँ मिलती हैं, जिन्होने सदा-सर्वदा सर्वान्तःकरण से इस सत्य मे विश्वास

किया है कि अपने भाई का खून बहाना—फिर वह देशभक्ति-जैसे ऊँचे आदर्श के नाम पर ही क्यो न हो—भ्रातृ-घाती के अभिशाप को बुलाना है! उनके जीवन मे एसिसी के सन्त फ्रासिस की पुण्यमयी वाणी का आदर्श और उनकी महान् अभीप्सा का मन्द्र स्वर घोषित होता है। "प्रभु, मुझे अपनी शान्ति का साधक बना। जहाँ घृणा का राज्य हो, वहाँ प्रेम के बीज बो सकूँ। जहाँ आघात बोल रहा हो, वहाँ क्षमा के बोज बो सकूँ। जहाँ निराशा घनी हो आई हो, वहाँ आशा के बीज बो सकूँ। जहाँ उदासी छाई हो, वहाँ प्रकाश के बीज बो सकूँ।"

आगामी शान्तवादी सम्मेलन मे ऐसे ही कुछ मनीषी एकत्रित होगे और अपने उन अनुभवो को, जिनमे प्राण भी हैं तथा वैचित्र्य भी, एक दूसरे के विचार के लिए उपस्थित करेंगे। फिर वे उस अदृश्य—किन्तु अदृश्य होने पर भी प्रबल शक्ति का आहरण करेंगे, जो शान्ति-स्वरूप भगवान् के नाम पर मिलने वाली दो-चार आत्माओ के भी एक-दूसरे के पास आने से अपने आप प्रवाहित हो उठती है। प्रभु ही परम शान्ति के प्रतीक हैं। इस सम्मेलन मे भाग लेने वाले प्रतिनिधि यह अवश्य अनुभव करेंगे कि यहाँ से जाने से पहले उन्होने मानव-मैत्री और द्वेष के विरुद्ध त्याग करने के अदम्य साहस—इन दोनो सूत्रो को मिलाकर बटी हुई हृदय की रस्सी के प्रेममय बधन—को और भी मजबूत कर लिया है।

किन्तु सशय करनेवाला पूछता है: आखिर जब कोटि-कोटि योद्धा और सग्राम को ही दो विरोधी दलो के बीच फैसले का एकमात्र चरम साधन समझनेवालो की टोलियाँ मृत्यु को रोक रखने वाले बाँध को तोड़ने-फोड़ने पर कमर कसे हुए हो, तो मुट्ठी-भर शान्तिवादी कर ही क्या लेंगे? और जब एक सदेही दूसरे से मिलता है, तो वे कहते हैं कि पुरानी कहानी मे जिस तरह राजा समुद्र की उत्ताल तरगो के खिलाफ धावा बोलने गया था, वैसे ही ये बेचारे शान्तिवादी सग्राम की बाढ रोकने के लिए बालू की भीत खड़ी करने जा रहे हैं। यह भी क्या बुद्धिमानी है!

किन्तु आत्मा मे विश्वास करने वाला अपने हृदय की सारी मगल-भावना और कोमलता की शक्ति को लेकर इसका विरोध करता है। वह जानता है कि मनुष्य के विकास की कहानी ने बार-बार यही साबित किया है कि अधकार की सघन मेघ-राशि को प्रकाश की 'एक' ही अकेली किरण चीर कर व्यर्थ करने की अनन्त शक्ति रखती है। उस निहत्थी किरण के पास युगो-युगो के अँधियारे का दिवाला निकालने की ताक़त रहती है।

जो सच्चे और पूरे अर्थों मे ईमानदार शान्तिवादी हैं, वे प्रकाश की छोटी-छोटी-सी रश्मि-राशियो की तरह हैं। उनका प्रभाव उतना ही बढ़ता जाता है, जितना कि वे विवेक की परम शक्ति के साथ अपना मेल बढ़ाते जाते हैं। और जिन्हे सत्य की थोडी-सी भी साधना करने का अवसर मिला है, वे आप से बतायेंगे कि इस मेल के पीछे ऐसे कठिन नैतिक परिश्रम और तपस्या का प्रयोजन होता है, जिसकी तुलना मे 'पैरेड-ग्राउण्ड' का परिश्रम पासँग मे भी नही टिकता। किन्तु उसका प्रभाव आधी रात के उस जादू-भरे प्रभाव की तरह होता है, जो गुपचुप रात की नीरवता मे कलियो को खिलाता और फलो को मधुर रस से परिपक्व करता है।

इतना ही नही। ससार मे एक विशाल नैतिक नियम चल रहा है, जो इस विश्व को परिचालित किये हुए है। शैतान सिर्फ़ किसी हद तक ही अपना चरम प्रभाव फैला सकता है। उस हद तक शैतान को खुल-खेलने की इजाजत भी दे दी जाती है—वह अपनी सोने की मायापुरी मे बड़ी शान से कुछ दिन राज्य भी कर लेता है। किन्तु उस सीमा के पार शैतान की ताकत एक पग भी आगे नही बढ सकती। और तब धर्म की तराजू का पलडा कुछ इस अन्दाज़ से अचानक उसके विरुद्ध झुक पड़ता है कि शैतान का स्वर्ण-भवन, उसकी आकाशचुम्बी इमारत, उसकी गणनातीत वाहिनी, वैभव और ऐश्वर्य—बालू पर बने हुए प्रासाद की तरह दम-भर मे भहरा कर धूलिसात् हो जाते हैं।

शान्तिवादियो को इसी नैतिक नियम पर—उसकी शक्ति और उसके

विधान पर—गहरा विश्वास होता है। बाइबिल के 'जाब' की तरह उनमें उस शुभ घड़ी की राह देखने का धैर्य होता है, जब शान्ति की भावना और उसके साधन युद्ध की लिप्सा पर विजय प्राप्त करते हैं—अपनी जयपताका फहराते हैं। अतएव वे प्रतिदिन—प्रतिमुहूर्त्त—मैत्री के बन्धन को और भी मजबूत बनाते हुए बढ़े जाते है। जहाँ तक सम्भव है, वे सदैव अपने को प्रचार और विज्ञापन की दुनिया से भरसक दूर रखते हैं। अगर वे कभी सम्मिलित भी होते है—जैसा कि इस बार आगामी दिसम्बर (१९४९) में वे शान्तिनिकेतन और सेवाग्राम मे होने जा रहे है—तो उनका यह सम्मेलन विश्व के मंगल के लिए श्रम करने वाले मज़दूर-साधको के पुनर्मिलन के समान ही होता है।

अस्तु, आगामी विश्व-शान्तिवादी सम्मेलन को आप श्रद्धा और विश्वास के क्षेत्र मे जीवट का प्रयोग करने वालो का एक दुःसाहस भी कह सकते हैं। और किसी युग-गुरु ने स्पष्ट ही नही कहा था कि विश्वास से पहाड़ भी हिल सकते हैं? पहाड़ सचमुच ही हिलते है। अगरचे कि ऊपर से वे अचल-अटल और ठोस होकर बड़े दर्प के साथ खड़े रहते हैं, फिर भी उनकी जड़े हिल जाती हैं, उनके पाँवो के नीचे को ज़मीन खिसकने लगती है। मुमकिन है कि जिसे दुनिया ठोस वस्तु कहती है, ऐसी कोई ठोस कहलाने वाली चीज इस सम्मेलन मे न की जा सके, ऐसा कोई कृतित्व इस सम्मेलन के पल्ले न पड़े, तथापि इस सम्मेलन से इतना तो एक बार फिर से सिद्ध हो ही सकेगा कि मानव के हृदय मे वास्तव मे घृणा का नही, प्रेम का, युद्ध का नहीं, शान्ति का ही शाश्वत आवास है।

मृत्यु पर विजय

सावित्री और सत्यवान की कहानी हिन्दू मात्र की जानी हुई है। सत्यवान के अवसान के बाद भी सावित्री ने अपने प्रेम के त्याग और विश्वास के तेज द्वारा सदा के लिये गये हुए को भी काल के कराल मुख से वापस लौटा लिया था। कवि ने सम्भवतः उसके मनोभावो को ही इन बहु परिचित पंक्तियों मे प्रतिध्वनित किया था :

"O Death, Where is thy sting ?
O Grave, Where is thy victory ?
[ओ मृत्यु, तुम्हारा गरलदन्त कहाँ है ?
ओ चिरसमाधि, तुम्हारी विजय कहाँ है ?]

किन्तु यह कहानी सिर्फ कहानी नहीं है, वह एक परम-सत्य आध्यात्मिक अनुभव का परिचय है। यदि इस लोक से विदा लेने वाले के प्रति हमारा प्रेम सच्चा है तब फिर वियोग का सवाल ही नही उठता, क्योकि सच्चा प्रेम असीम की पटभूमिका मे ही प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक व्यक्ति को देखने का अभ्यासी होता है। जीवन की पूर्ण राशि मे जिसे हम बाकी कहकर हाय-हाय करते हैं, ऋषियो ने क्या उसी को प्रक्षय आत्मा का ऐश्वर्य कहकर नहीं घोषित किया है ?

किन्तु अपनी चेतना के प्यार को हम किस तरह असीम, अक्षय और पूर्ण को पटभूमिका मे देख सकते है ? उसे किस प्रकार विराट पारिपार्श्विक दान कर सकते हैं ? उलझन यही से तो शुरू होती है। प्रतिदिन के जीवन के कामकाज मे अपने सहयोगियो के साथ हम उनकी सत्ता के केवल परिवर्तनशील ऊपरी स्तर से ही अपना सपर्क रखते है, उसी को लेकर हमारा कारबार चलता है। धीरे-धीरे हम भूल जाते है कि प्यार करने वाला और प्यार पाने वाला—दोनो ही—"अमृतस्य पुत्राः" है! दोनो ही अक्षय हैं, अमर हैं। तभी मृत्यु आती है—मृत्यु जो देश और काल की भाषा मे वियोग की बात सुनाया करती है—हमे याद दिलाने के लिये कि यह जो भूल जाने का आवरण है, यह जो अपनी सच्ची सत्ता को भुला देने की विडम्बना है—यही मिथ्या है, इसे ही भूल जाना होगा।

और ये जो दुःख के आँसू हैं वे सूर्य के ताप के समान ऊपर के कठिन आवरण को विगलित करने के लिये ही बह रहे है, जिससे भीतर छिपा हुआ सत्य मुक्त हो जाय, अपनी बन्धनहीन पूर्णता को प्राप्त हो।

सावित्री-सत्यवान की कहानी का आधुनिक सस्करण कविगुरु रवीन्द्र-नाथ के जीवन मे घटित हुआ था, जब उनका छोटा और सब से अधिक प्रिय एव होनहार लडका सोलह वर्ष की उम्र मे ही सहसा चल बसा। अपने एक साथी के पास छुट्टियाँ बिताने वह गया था और वहीं साघातिक रूप से बीमार पड गया। कवि उसकी शय्या के निकट तीन दिन तक रह सके। उसके अत समय मे कवि बाजू के कमरे मे नीरव अधकार के भीतर चुपचाप स्तब्ध होकर ध्यान करने लगे कि परम शाति के साथ वह मरणसागर को पार करके लोकातर की यात्रा कर सके। ध्यान के भीतर से ही सहसा उन्हे जो उपलब्धि हुई उसे उन्हीं के शब्दो मे उद्धृत करता हूँ।

"हठात् मुझे एक समय ऐसा अनुभव हुआ मानो मेरा चित्त किसी ऐसे आकाश मे उतराता हुआ पहुँच गया है जहाँ न अंधकार है न प्रकाश, केवल प्रशात गाम्भीर्य है, चैतन्य का एक सीमाहीन सागर जिसमे लहरों का ज़रा-सा भी चाचल्य—हलका-सा भी शब्द नही है। मैने अपने पुत्र की एक झलक देखी कि वह अनत की गोद मे सोया हुआ है और मै चिल्लाकर पुकारने ही वाला था कि अब कोई भय नही है—वह सपूर्ण सुरक्षित है मुझे ठीक उस पिता के समान लगा जिसने अपने बेटे को सागर पार भेज दिया है और खबर पाई है कि वह सब प्रकार निरापद भाव से अपने गतव्य स्थल को पहुँच गया है—वहाँ सब प्रकार से सफलता लाभ कर रहा है!"

यह प्रेम ही है जो मृत्यु की रहस्यमय अज्ञात पहेली पर विजय प्राप्त करता है, जो यह जानता है कि अपने प्रियजनो के सामीप्य मे ही उनकी रक्षा नही छिपी होती, इस सामीप्य को पार करके अज्ञात लोकातर मे ही उनकी सार्थकता उपलब्ध होती है। सच्चा प्रेम इस उपलब्धि मे सहायक होता है। प्रेम मे ऐसा ही जादू, ऐसा ही रहस्य, ऐसी ही अनोखी शक्ति होती है। हम क्यो न इसी परम प्रेम के अभिनंदन मे गीत गाये?

शिक्षा में साहस

अभी उस रोज एक मित्र ने सवाल किया—'क्या आप आज भी शिक्षा को साहसपूर्ण प्रयोगो का कार्य ही समझते हैं ?' इन पक्तियो के लेखक ने निवेदन किया—'शिक्षा और है ही क्या ? प्रयोगो मे ही तो उसका निरन्तर परिचय है।' वास्तव मे मनुष्य निरन्तर सत्य की खोज में बढ रहा है उसके व्याकुल प्राण आत्मा के सत्य को भी पाना चाहते हैं और सत्य की आत्मा को भी। इन्ही दोनो पंखों पर उसके विकास की उडान तुली होती है।

सत्य की आत्मा के समान मानव की आत्मा के भी दो पहलू हैं: व्यापक और व्यक्तिगत। फिर चमकते हुए हीरकखण्ड की तरह हर पहलू के और भी कितने ही पहलू हैं। इसीलिए व्यक्ति की जीवन-धार के अलग-अलग घाटो पर—और सत्य के क्रमिक विकास की अलग-अलग मजिलो पर—ऊपर के अनगिनती पहलुओ मे से कोई खास पहलू या कुछ खास रूप मनुष्य के दोनो रूपों को अपनी ओर आकर्षित किया करते है। एक मे वह अपने-आप मे पूरी इकाई होता है और दूसरे मे समाज की बृहत्तर इकाई के निर्माण मे सहायक सदस्य। तात्पर्य यह है कि वर्तमान युग मे—और शायद सभी युगो मे—शिक्षा के विकास का अर्थ 'नरनारायण' के साथ-साथ 'दरिद्रनारायण' की आराधना है। दूसरे शब्दों मे मनुष्य के अन्तर मे विराजमान भगवान् के शुद्ध, पूर्ण, सर्वशक्तिमान रूप को लाभ करने के साथ-साथ दीन-दरिद्र के अन्तर मे समाये हुए भगवान् की सेवा करना भी है।

क्या यह आराधना, यह सेवा, आत्मोपलब्धि की यह प्रक्रिया मनुष्य की जिन्दगी के किसी खास हिस्से को ही आलोकित किये रहेगी ? क्या वह किसी खास तालीमी सिद्धान्त अथवा शिक्षा विषयक आदर्श-विशेष मे ही

संकुचित हो जायगी ? या इसके विपरीत यह साधना जीवनव्यापिनी साधना होगी ? यही नहीं, इस साधना का चक्र तो एक जीवन मे नही, शायद जन्मान्तर मे ही जाकर पूरा होता है ।

प्रायः ऐसा ही होता है कि जो साधक अपने अन्तर मे अवस्थित नारायण की उपलब्धि के पथ पर अग्रसर होता है वह किसी हद तक अपने को सबसे विच्छिन्न कर लेता है । उस समय इसी अवस्था की पूरक अवस्था का विचार उसके लिए कुछ धुँधला हो उठता है और वह सर्वभूत मे समाये हुए दरिद्र-नारायण के साथ अपने एकात्मबोध को किंचित् भूल-सा जाता है । यह आपातदृष्ट पारस्परिक विरोध शिक्षा की साधना मे नये प्राण फूँक सकता है । आत्मा की सबसे सच्ची साध और प्रार्थना यही है कि मनुष्य व्याकुल होकर पुकारे—'मुझे कामना से करुणा की ओर ले जाओ ।' कामना है अहंकार का एक रूप और करुणा है प्रेम की एक मधुर झाँकी । सुप्रसिद्ध धर्म-ग्रन्थ ने तो इसी करुणा एव मैत्री को ही परम धर्म कहकर पुकारा है ।

शिक्षा को इस उदार, साहसपूर्ण प्रगति को साधित करने लिए शिक्षा के उद्देश्य, प्रेरणा और प्रयोजन मे ही एक प्रकार के जीवट से कही ऊँची मस्ती चाहिए । ज्ञान के प्रसार अथवा जानकारी के प्रचार मे एक प्रकार का ऐसा फक्कड़ाना उत्साह होना चाहिए, जैसा पर्वत-शृंग पर चढनेवाले दुःसाहसी घुमक्कडो मे होता है, जो चिरपुरातन और चिरनवीन गौरीशंकर के उच्चतम शिखर तक पहुँचने के लिए एक चोटी के बाद दूसरी तुषार-धवल चोटी को लाँघे चले जाते हैं । दूसरे शब्दो मे कहे, तो पाठ्य-पुस्तक उस स्प्रिंगवाले सोपान की तरह है, जिस पर पाँव रखकर चढनेवाला ज्ञात से अज्ञात की ओर उछाल मारकर बढ जाता है, या बच्चे की उस छोटी गाडी की तरह है, जिसे पकडकर वह अपने पाँवो की गति को आजमाता हुआ लड़खडाने की सूरत से अपने पाँवा चलने की अवस्था को पहुँच जाता है । जब ऐसा होगा, तभी विद्यादायिनी सरस्वती की सच्ची आराधना

होगी। और तब हर विद्यालय उनके पुण्य चरणों के लिए उपयुक्त कमलासन बन सकेगा।

शिक्षा के जीवट का दूसरा पहलू शिक्षा मे जीवट है, किन्तु इमारती लकडी से अधिक महत्व पेड़ को ही मिलना चाहिए। नवीन की आराधना मे अपने को निरन्तर माँजते रहना किसी स्थिर तालीमी आदर्श की पुष्टि से बडी चीज है। सीमित सत्य से परे सीमाहीन और विचित्र सत्य की ओर बढने मे ही शिक्षा की असल सार्थकता है। जीवन मे हो कि जीवन के सत्य प्रेम मे, विद्या मे हो अथवा ज्ञान मे—सीमाहीन को सीमा मे बाँधना, अथाह सागर को संकीर्ण घडे मे बन्द करने की चेष्टा करना शायद सबसे बड़ा पाप है।

सिनेमा और क़ब्रिस्तान

बम्बई के क्वीन्स रोड पर जो कब्रगाह है, उसकी चहारदीवारी पर आए-दिन शहर मे चलने वाली सिनेमा की तसवीरो के इश्तहार चिपकाये जाते हैं। क्या इस घटना का कोई भीतरी अर्थ है—अर्थात् क्या सिनेमा और कब्रिस्तान मे कोई अतर्निहित सबध है? जाहिरा अर्थ तो कुछ भी नहीं है लेकिन इन्सान की चेतना मे कही कोई स्तर ऐसा अवश्य है जहाँ ये दोनो कभी-कभी मिल बैठते है।

कहा जाता हे कि सुख नाम की चीज चचल होती है, वह टिकती नहीं। सिनेमा भी सुख की तलाश का एक रास्ता है जिसमे वत्तमान सभ्यता ने ख़ास कौशल अख्तियार किया है। चुनाँचे कब्र और कब्रिस्तान के नियम सिनेमा पर भी लागू हे।

एक और भी अर्थ मे सिनेमा से कब्रिस्तान की याद आती है। मुल्क के एक मशहूर रिसर्च-इस्टिट्यूट के अध्यक्ष महोदय ने एक रोज मजाक-मजाक मे कहा था कि सिनेमा का अर्थ 'सिन+मा' अर्थात् पापो की जननी है। और बाइबिल ने कहा ही है कि पाप का पारिश्रमिक मौत होती है। सिनेमा और मौत का यह नाता निरे बादरायण सबध से कुछ अधिक गहरी चीज है।

तो प्रश्न यह उठता है कि क्या सिनेमा सचमुच ही सात्त्विक जीवन की क़ब्र है?

दरअसल बात तो यह है कि पडितो और मुल्लाओ की बात छोड देने पर भी देश मे सुसस्कृत लोगो की एक श्रेणी ऐसी अवश्य है जिसकी धारणा है कि भली जिदगी बसर करने वाले के लिए सिनेमा की सैर फ़ायदेमन्द नही होती। उनकी दलील यह है कि सात्त्विक जीवन इन्द्रियगत पार्थिव सुखो से विमुक्त होता है, जब कि सिनेमा की फिल्में इन्हीं विषय-

बात सुखो से गले तक भरी रहती हैं। सिनेमा के शौकीन शायद इसे न माने लेकिन इस बात मे बहुत-कुछ सार है कि आजकल के अधिकाश स्नायविक विकारो और रोगो का मूल उन विकृत विचारो मे है जिनसे सिनेमा जानेवाली भोली जनता के दिमाग भर उठते हैं। हकीम और मन के रोगो के विशेषज्ञ आपको आँकडे देकर समझा सकते हैं कि चटपटी और चुलबुली सिनेमा की तसवीरे, हालीवुड के जादू, किस तरह आज के तरुण-सम्प्रदाय की प्राणशक्ति को घुन की तरह खा रहे हैं।

किशोरावस्था मे चित्त पर ये सब दृश्य और विचार झकझोर देनेवाला प्रभाव पैदा करते हैं। सिनेमा के चित्रो मे वे प्रेम-घृणा-क्रोध इत्यादि के तूफान देखकर वापस लौटा करते है लेकिन उस आँधी मे उड़कर उनका दामन जिन काँटों मे उलझ जाता है, वहाँ वह अटका ही रह जाता है। उनका सरल और मधुर भाव-जगत् भीतर ही भीतर उथल-पुथल अनुभव किया करता है।

सुदर और पवित्र जीवन का आधार मनुष्य के जीवन के केन्द्र मे स्थित शाति है। वे सारी वृत्तियाँ जो इस शात और सतुलित स्थिरता की रक्षा करती हैं, हममे अधिक से अधिक मात्रा मे होनी चाहिए। जो इस शाति को झटके के साथ विचलित करनेवाले भाव हैं, जो केन्द्र से हमे उडाकर दूर ले जाते हैं, त्याज्य है। जो हमे सयत बनानेवाली प्रवृत्तियाँ हैं उन्हें प्रश्रय देना चाहिए, जो विकेन्द्रीकरण करनेवाले विचार है उन्हे निर्वासन मिलना चाहिए। कच्ची उम्र मे जब कि व्यक्तित्व तिल-तिल करके बन रहा है, जब कि नीव डाली जा रही है, आँधी-तूफान विचलित करने वाली चीजे ही हैं। किशोर का मन बहुत सूक्ष्म होता है इसी से उसके लिए खतरा भी ज्यादा होता है। अगर सिनेमा का 'टॉनिक' जरूरी ही हो तो इस 'टॉनिक की कुछ बूँदे ही काफी होगी—खासा 'डोज' लेना अनुचित और अस्वास्थ्यकर होगा।

शिक्षा-विशारदों की प्रधान शिकायत आजकल यही है कि स्कूल के लड़के-लड़कियाँ यौन-रहस्यो के बारे मे उलटी दिशा से बहुत-सी गलत

जानकारियो से अपने मस्तिष्क को भर लेते है—उनके विषय मे वे अत्यन्त उग्र रूप से आत्मचेतन हो उठते है। सयम से जिस शात छन्द का आविर्भाव होता है वह उनमे नही मिलता। मौत को खूबसूरती उनमे देखने को नही मिलती। और इस बात से इनकार नही किया जा सकता कि इसकी प्रधान जिम्मेवारी सिनेमा की 'सैक्स अपील' को है। आज की अधिकाश तसवीरे मनुष्य के निम्नस्तर की वृत्तियो को ही उकसाने या अपील करनेवाली होती है। यही ज्यादा चलती है और निर्माताओ की जेब भी भरती है।

यही नही, इसी से एक सामाजिक मसला भी सबद्ध है। विवाह के बारे मे विकृत धारणाएँ, उसकी पवित्रता को नष्ट करनेवाले ख्यालात फैलते जा रहे है। दूसरी ओर विवाहित जीवन के उत्तरदायित्व से बचने की इच्छा प्रबल होती जा रही है। ये दोनो झुकाव अधिक अशो मे सिनेमा की ओर से ही आए हैं। इसी से कहने की इच्छा होती है कि वर्तमान समय मे सिनेमा सात्विक जीवन को समाधि की ओर ले जा रहा है।

जो कुछ सुन्दर है, सुरुचिपूर्ण है, शिल्प की दृष्टि से कमनीय है, वह सिनेमा मे सस्ता बना दिया जाता है। और फिर भी इसे कौन अस्वीकार करेगा कि आज की दुनिया मे सिनेमा एक ताकत है। क्या हम आशा करे कि एक तरफ सिनेमा के निर्माता जनता के प्रति, देश की बढती हुई जवानी के प्रति अपनी जिम्मेदारी समझेगे और दूसरी तरफ़ जनता ख़ुद उनसे सुन्दर और सुरुचिपूर्ण तसवीरों की माँग करेगी ?

वे बोले—"बेटा ! वह शमा तो तुम्हारे अन्दर पहले से ही जल रही है।" मै वेसब्री से बोल उठा—"फिर मै उसे क्यो नही देखता ?"

वे शान्ति से एक मुसकान के साथ बोले—"धुआँ हट जाने दो। अधकार को मिटने दो तब तुम देखोगे कि वह प्रकाश चाँद और सूरज से भी अधिक तेजोमय दिखेगा।"

"आपका यह अधकार किस प्रकार दूर हुआ ?"

कुछ ठहर कर वे बोले—बेटा इसका उत्तर अभी रहने दो। मेरी झोपडी मे चलो। वही कह सकूँगा।"

आध मील तक हम मौन उस शहर की गलियो से गुजरते हुए एक खुले मैदान मे पहुँचे। हमारे आगे एक पतली छोटी नदी आई। उसे किश्ती द्वारा पार कर हम दूसरे किनारे आ लगे। वहा से कुछ गज के फासले पर ही एक झोपड़ी दिखलाई दी।

"यही है जनाब, मेरा गरीबखाना"—उन्होने उस ओर अगुलि-निर्देश किया।

हम झोपड़ी के अन्दर आ गये। झोपडी के अन्दर जमीन पर एक फटी हुई चटाई, कोने मे एक टूटी हुई सुराही और नज़दीक ही मिट्टी का गिलास दूसरे कोने मे एक लालटेन और उसके ऊपर दीवाल पर एक माला लटकती मुझे दीख गई।

"आप तो थक गये होगे ?" फिर एक क्षण बाद बोले, "और क्या जल पीयेंगे ?"

"नही जनाब शुक्रिया, मुझे तो शराबे शौक पिलाइये," मैने बैठते हुए कहा।

"आप किसका शौक करते है ?" उन्होने एक मुसकान के साथ पूछा।

मैने कहा "शौक उस महबूब के दीदार का, जिसको देखकर आप परवाने की तरह पागल हो गये है।"

"क्यो जनाब ?' वे हँसते हुए बोले, "फिर वही सवाल। ऐसा मालूम होता है कि आप मुझे नही छोड़ेगे।"

"आखिर छोड़ ही कैसे दूँ, उसी के लिये तो यहाँ तक आया हूँ।"

"अच्छा तो सुन ही लें। मै एक रियासत मे २५ वर्ष दरबारी गवैया था। हर रोज़ राजा साहब का दरबार होता और मुझे उसमे सितार बजाना और गीत गाना होता। कभी-कभी जब वे मुझसे खुश हो जाते तब खिलअत भी बख्श देते। मै बड़े आराम मे था। लोग भी इज्ज़त करते रहते थे। लेकिन लगभग तीन चार वर्ष हुए एक दिन यो ही बैठा हुआ दरबार की बातें सोच रहा था। राजा साहब से मिले उस कीमती इनाम ने मुझे आनन्द मे ला दिया था। लेकिन मै पूरा-पूरा आनन्द का उपभोग नही कर पा रहा था। मन के अन्दर न जाने क्या घुस आया, जो हर समय एक उदासी भरने की कोशिश कर रहा था। न मालूम क्यो जब मै आनन्दित होता हूँ, तब अन्दर बैठा कोई रोने लगता है। अनेक रातो मुझे इसका अनुभव हुआ और मेरे दिन यो बेचैनी से जाने लगे। मै अपने आप से बराबर पूछा करता कि आखिर यह रोना कैसा है, क्यो यह बेकली है।

"एक दिन सुबह उठा। उठ कर यो ही बैठा था कि न जाने कहाँ से किसी ने कहा 'आज राजा के दरबार मे मत जाना। तुम्हे आज तो मेरे दरबार मे आना होगा।" इस आवाज का मतलब मै नही समझ सका। अरे, यह सब ख्याली ख्वाब है। यही मन ही मन सोचते मै समय होते ही दरबारी पोशाक पहन दरबार मे चला गया।

दरबार मे राजा साहब ने कहा "जनाब उस्ताद साहब, आज वही मेरा पुराना गीत गाइये—

मेरी नैया कर दे पार,

सांई मेरी नैया कर दे पार।

'जैसा हुजूर का हुक्म' कह मैने सर झुकाते हुए गाना शुरू किया। न मालूम कितनी देर तक गाता रहा। गाते-गाते मै अपने ही को भूल गया। मुझे लग रहा था कि आज से पहले मैने कभी भी यह गान नहीं गाया है। दरबार खतम होने पर आया, लेकिन मै समय भी भूल चुका

था, समय का ख्याल तो तब हुआ जब एक दरबारी ने कान में कहा कि "अब गाना बन्द करो, राजा साहब तख्त पर से उठने की तैयारी कर रहे है।

मेरा गाना बन्द हुआ। मन न जाने कैसा हो रहा था। मै राजा साहब के नजदीक, पॉव के पास गया और झुकते हुए बोला, 'हूजूर अब मुझे छुट्टी दे दी जाय।'

'आखिर क्यो उस्तादजी' राजा साहब ने पूछा।

"मैने उन्हे उसी तरह कहा "कल से आप के दरबार मे मेरा गाना न हो सकेगा। मुझे कल से ही राजाओ के भी राजा के दरबार मे गाने का हुक्म मिला है।" "पागल कही के" राजा साहब क्रोधित हो गये। दरबार जल्दी खतम हुआ।

"रात आई, मै घर-द्वार सब कुछ छोड सिर्फ सितार ले वहॉ से चला आया। अब जब मन मे आता, मै गाता बजाता। दिन पर दिन गुजर जाते पर मुझे भोजन न मिलता लेकिन कभी शिकायत या शिकवा नही करता था। मेरे अन्दर एक ऐसा सुरूर पैदा हुआ जिससे दुनियाबी भूख—रोटी या रुपये की—बिलकुल मिट चली। गाते-बजाते मै खुद मुग्ध होता और मेरे जिस्म का जर्रा-जर्रा आनन्द से भर जाता। अब अन्दर का रोना न था, वहॉ तो कोई बैठकर रात-दिन खिलखिलाया करता। मै यो ही भटकता-भटकता इस नदी के किनारे आ गया। यही सामने जो दरख्त देखते है, उसी के नीचे रहा करता। वर्षा हो या गर्मी, जाडा हो या और कुछ, बस मेरा मन यही लग गया था। जब कभी कोई अल्लाह का बेली कुछ खाने को दे देता, तो खा लेता पर मॉगता कभी नही। कुछ दिन बाद यही के किसानो ने मेरे लिये झोपड़ी बना दी और ढाई वर्ष से कोई न कोई अपनी बारी पर आकर दो रोटी और दो प्याज दे जाता है, पानी की सुराही भर जाता है और लालटेन में तेल रख जाता है। कभी कभी जब मै इन रोटी लानेवालो के मुँह की ओर देखता हूँ, तो मुझे उनके भीतर वही रोशनी दीख पड़ती है, जिसे

मैने राजा के दरबार मे अन्तिम दिन देखा था, जब 'नैया कर दो पार' गाते-गाते मस्त हो उठा था।

"यह झोपडी मेरे महबूब का महल है। उसके और मेरे इश्क की बात क्या कहूँ, कैसे उसका वर्णन करूँ ? कभी-कभी मेरे गान मे या सितार बजाने मे उसकी मुहब्बत की महक महसूस होती है।'

वे चुप हो गये। मैने कुछ देर बाद पूछा "तो क्या उस राजाओ के राजा की ओर से मुझे भी कुछ हुक्म आयेगा ?"

"जरूर। उसके हुक्म से ही एक प्यादा जन्म-जन्मान्तर से तुम्हारी तलाश मे है, जब वह तुम्हे इस दुनिया के मेले मे पहचान लेगा तब खुदा का—राजा का—हुक्म देगा।

वर्षों गुजर गये है उनसे मिले। वे दिन न जाने कितने पीछे चले गये हैं। पर उसकी याद और उस प्यादे की प्रतीक्षा अब हो रही है। लेकिन प्रीतम का प्यादा अभी तक मेरे पास नही आया है। पर कभी-कभी यह भी मन मे आ जाता है कि कही वह प्यादा मेरे सामने आकर और मेरे द्वारा स्वागत न पाने पर लौट तो नही गया। हो सकता है, मैने उसे न पहचाना हो।

लेकिन आखिर वह आया कैसे होगा ? क्या उसका रूप होगा ? या उसका रूप न होकर आवाज ही आवाज है, जो अदर से उठती है और अदर से ही अपने आने की सूचना देती है। लेकिन एक बार जब मै उस पर विचारता हूँ, तब लगता है कि उसका प्रकाश सूरज जैसा होगा। वह उसी के जैसा विश्व-रूप होगा। और यदि वह वाणी है तब क्या उसकी वाणी आकाशव्यापी नही होगी ? क्या उस विश्ववाणी की सत्ता इस जगत्-पर आकाश की तरह व्याप्त नही होगी ? यह सब तो मन के प्रश्न है, इनका निर्णय मै तो खुद ही नही कर सका हूँ। मुझे तो बार-बार लगा करता है कि प्रीतम का प्यादा आकर चला गया है। और जब मै इसकी कल्पना करता हूँ कि वह चला गया है, मेरी आँखो से आँसू निकलने

लगते है और मन उस समय न जाने किसकी प्रतीक्षा मे निराश होकर गाने लगता है—

"सोया था दीवार तले,
जब आये तुम दरवाज़े।
नीद खुली नहिं, द्वार बन्द था,
लौट गये तुम जीवन नाथ हमारे।
नींद खुली तब सुनी तुम्हारे क़दमों की आवाज़,
जान लिया मैने तुम आये थे मेरे दरवाज़े।

रात्रि मे जब आकाश तारो से झलझला उठता है मै अपनी कोठरी से बाहर ताकता रहता हूँ और प्रतिक्षण यही आशा करता हूँ कि प्रीतम का वह प्यादा आ रहा है। लेकिन आशा-निराशा मे मेरे प्रतीक्षा के दिन चले जा रहे हैं। प्रियतम का प्यादा एक बार फिर लौट कर आ जाये। मेरे दरवाजे के सामने से गुजरे, कैसी भी उसकी पोशाक हो, सुनहरी या सुन्दर या मृत्यु से भी भयकर—मै उसका अपने सम्पूर्ण जीवन से प्रेम-पूर्वक स्वागत करूँ और प्रणाम करूँ। और उस समय उस आनन्द मे लीन होकर मै गा उठूँगा।

मेरे घर प्रीतम आया,
मेरे घर ठाकुर आया।
अपना महल छोडकर मेरे घर मे ठौर लगाया।
वह अनन्त अनुरागी, मेरा राग सुनन को आया।
वह ख़ुद मरम चितेरा मेरी छबि देखन को आया।
मेरे घर प्रीतम आया,
मेरे घर ठाकुर आया।

उत्सव-दर्शन

चाँदनी रात थी। आकाश एकदम स्वच्छ था। संसार रूपे की झीनी चादर ताने चुपचाप सो रहा था। अपने घर की सीढियो पर तरुणी गायिका चुपचाप और अकेली बैठी हुई थी। जो कुछ सुरीला और रङ्गीन है, उसके साथ इस तरुणी के दिल मे एक सहज और सुकुमार सवेदना थी। अचानक शीतकाल की उत्तरी हवा ने अपना पथ बदल दिया और अपनी अलस गति से दक्षिण की ओर से बहने लगी। वह प्राण-पूरक आनन्दमय ऋतुराज के आगमन की अग्रदूती थी। तरुणी ने उसके चञ्चल दोल और मदिर-गध को तत्क्षण पहिचान लिया और वह गा उठी :—

"आओ, हे बसन्त, आओ!
सौन्दर्य का भी सौन्दर्य
और सीमाहीन की शोभा लेकर—
आओ, हे बसन्त, आओ—
अनन्त के आनन्दलोक मे
उन्मुक्त कर दो हृदय के रुद्ध कपाट!
आओ, हे बसन्त, आओ!
उत्सव के अकूल आयोजन में
अपने-पराये, शत्रु-मित्र, पास और दूर—
के सब मिथ्या भेद—
डूब जाएँ—निश्चिन्ह होकर।
आओ, हे जाग्रत बसंत, आओ।"

घर के दीपक बुझ गए, गान थम गया, तरुणी विश्राम करने चली गई। उसके मुख पर स्निग्ध शाति थी और पाँवो मे छन्द की लय। वह जैसे इस निखिल विश्व के साथ—शाश्वत के साथ—एकतान थी।

शिशिर की बूँद मानो चमकते हुए सिन्धु मे मग्न हो गई थी। न जाने किस सुदूर की सुरभित श्वास बह रही थी, जिसमे दैनन्दित जीवन की संपूर्ण व्यथा और क्षुद्रता क्षण भर के लिए डूब गई। सहसा न जाने किस लोक से आकाश को परिपूर्ण करती हुई मेघमन्द्र ध्वनि उठी—'शान्त शिव अद्वैतम्'! शाति हो, मङ्गल हो, हृदय से हृदय का मिलन हो!

यदि प्रकृति के विशाल प्राङ्गण मे शत-शत पुरुपो और तृण, गुल्म, लताओ के भीतर से बसत अपना यह आध्यात्मिक सदेसा लेकर आता है, तब अवश्य ही हमारे प्रत्येक उत्सव और त्यौहार के भीतर भी कुछ-न कुछ अर्थ और कोई-न-कोई सदेशा रहता ही होगा। प्रकृति और मानव क्या एक ही जीवन-ढाल के दो पहलू नही है?

तब हमारे उत्सवो की निगूढ आत्मा—बाह्य देह नही—क्या है? मनुष्य के अन्तर मे जो कुछ उसका सर्व श्रेष्ठ है उसके आधार पर मानव-मानव के बीच बन्धुत्व का सेतु निर्माण करना—यही है। और प्रेम के अतिरिक्त अन्य कौन सी वस्तु हमारी सर्वश्रेष्ठ सपद कहला सकती है? हमारे भीतर जो कुछ उदार है, जो शाहाना है, जो रोजमर्रा की लुब्धता अथवा कृपण चेष्टा के कही परे है, उसी को उत्सव आकर जगा देता है। रोज हम प्राप्ति की नीति स्वीकार करते हैं, किंतु इस दिन हमारी वृत्ति त्याग की होती है। जिस क्षण हम अपना सचित वैभव—चाँदी के टुकड़े हो या आत्मा का धन-लुटाते हैं, चाहे वह कितने ही सकुचित पैमाने पर क्यों न हो, हम उस क्षण विधाता के समकक्षी हो उठते हैं। उस समय हमारी सतर्क दृष्टि तराजू की डराडी पर ही नही रहती। ऐसे क्षण क्या हमे इसी बात का ज्ञान कराने नहीं आते कि यदि भगवान् को पाना हो, तो स्वयं भी भगवान् बनना होगा, वैसा ही उन्मुक्त उदार, उतना ही अकुराठ दानी?

केवल यही नही। उत्सव के दिन (और उत्सव के दिन हमारे सम्मिलित जीवन के तिथि-पत्र मे गाढ़ी लाल स्याही से खूब स्पष्ट ही अकित रहते है) हमारे परिचय और अभिज्ञता की सीमाएँ फैलकर बड़ी हो जाती

हैं। मैत्री का घेरा विस्तृत भी होता है, गहरा भी। हमें इस सत्य की अधिकाधिक उपलब्धि हो चलती है कि हमारी आत्मा मे ही प्रेम की अक्षय निधि सचित है। इस अन्तरालवर्तिनी सपदा का बोध करके, उसके दर्शन की मदिरा से बेसुध होकर हम अपनी अतर की मानवता को पहचान पाते हैं और आनन्द मे मस्त होकर नीरव किंतु निविड गान गा उठते है—'मानव मानव इसीलिए है।'

प्रभु ईसा ने कहा—'मनुष्य केवल रोटी से ही जीवित नही है,' बात नितात सच्ची है। इसकी सचाई का एक ताजा प्रमाण इन पक्तियो के लेखक को अभी हाल में मिला, जब कि वह पास ही के एक दुर्भिक्ष-पीडित गॉव मे था। अवसर था "नवान्न" का। "कैसा मजाक है"—एक तार्किक मित्र कहने लगे, घर मे अन्न का एक दाना नही है और मनाने जा रहे है नवान्न ! आदमी भी किस कदर युक्तिशून्य होता है !" जो हो, गॉव के निवासी—स्त्री, पुरुप, बालक और वृद्ध—सभी चार दिन तक गीत और नृत्य का अटूट उत्सव मनाते रहे। ये चार दिन वे अपनी नग्न कगाली भूलकर प्राणो के उस लोक मे ले गए थे, जहॉ भूख, प्यास और अभाव मनुष्य को पराजित नही कर पाते। रोटी इस देह को पुष्ट कर सकती है, किन्तु मनुष्य की आत्मा अपार आनन्द का ही पान करके सशक्त और समाहित होती है। कदाचित् इसीलिए भागीरथी के पुण्य तट पर पुण्यकाल के ऋषि का आनन्दोदात्त स्वर फूट पड़ा था—"आनन्द से ही इस विपुल सृष्टि का जन्म है; आनन्द ही इसकी स्थिति है !" अतीत के नेपोलियन अथवा समय के विश्व-विजेता की सेना चाहे भूखे पेट एक कदम भी न बढ सके, किन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि कलाकारो की विशाल वाहिनी युग-युग मे पेट को पीठ से मिलाए शाति के उत्तुग शिखर की ओर अक्लात बढ़ती रही है। भूख से तडपते हुए कोटि-कोटि मानवो की जीवन-नैया को इन्ही अपराजय शिल्पियो के आशा और विश्वास ने ध्रुव नक्षत्र के समान तरग सकुल सागर मे भी साहस और शक्ति दी है।

इसी कारण उत्सव हमारे जीवन की प्रयोगशालाएँ हैं। यहाँ हम आनन्द की वीथिका में से गुजरते हुए सीमित जीवन को विराट बनाने का प्रयोग करेंगे। बिखरे हुए मानवों को ऐक्य की सुकुमार पर सुदृढ़ डोर में बाँध देंगे। उत्सव विश्व के साथ एक हो जाने की चेष्टा है। उन्मुक्त आनन्द ही इसकी आत्मा है। उत्सव के समय जो अकेला रहना चाहता है, वह उसके उद्देश्य को तो व्यर्थ करता ही है, अपनी भी क्षति करता है। निखिल सृष्टि को आनन्द के रस से सिंचित करने वाली सजल धारा से अपने को विच्छिन्न करने से हमारी ही हानि होगी। यदि ऐसे लोग सचमुच इस दुनिया में हैं, तो उन्हें गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की इस वाणी का स्मरण दिलाने की इच्छा होती है :—

—"जो शिशु राजकुमारों जैसी सज्जा से आवेष्टित है, जिसके सुकुमार गले को रत्नजटित मणिमाला घेरे हुए है, वह अपने खेल का सारा आनन्द खो बैठता है। उसकी बहुमूल्य वेशभूषा पग-पग पर बाधा देती है।

—इस भय से कि कहीं उसके वस्त्र उलझ कर फट न जायें अथवा धूल से मलिन न हो जायें, वह साथियों से दूर जा बैठता है; उसका चपल अंग-सञ्चालन भी जड़ हो जाता है।

—माँ, यदि तुम्हारी यह परम मूल्यवान् सज्जा, हमें धरती की निपट-पावन, करुण सुन्दर धूलि से वञ्चित रखती है, यदि मानवों के विराट-उत्सव आयोजन में हमें प्रवेश नहीं करने देती, तो यह नितान्त व्यर्थ है।"

—'गीताञ्जलि'

मैं रोया और मैं हँसा

७ अगस्त १६४१ को मेरे गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर जब इस जगत् से चले गये तो सारी दुनिया रोई और मै भी रोया। रोना भी तो एक पूजा की पद्धति है क्योकि जिस तरह से भी मनुष्य अपने भावो को प्रकाशित करता है, उसको मेरी राय मे पूजा का नाम देना कुछ ज्यादती न होगी। अगर मै अपनी कुटिया मे बैठकर इसलिए रोया कि ये मेरी आँखे उनकी सुन्दर मूर्ति को फिर नही देख सकेंगी, और न ही मेरे हाथ उनके कमल जैसे चरणो को छू सकेगे, तो इसमे मैने अपने प्रेम का अर्घ्य उनके सामने रख दिया।

लेकिन कई और कारण थे, जिनके लिए मै रोया। जब उनका श्वास बन्द हो गया तो उनकी मृत देह को अर्थी पर फूलो और चदन से सजाया जा रहा था। उस वक्त उनके मकान के बाहर जो लोग जिनकी संख्या हजारो की होगी, खड़े हुए थे, उनमे से एक दल उस कमरे मे, जहाँ यह अर्थी रखी हुई थी, ज़ोर करके घुस गया, और गुरुदेव के निकट रिश्तेदारो और मित्रो के हाथ से वह अर्थी लेकर बाहर आ गया। जिस तरह से उन्होने इस मृत शरीर को, जो कुछ ही मिनट पहले तक सजीव था, एक के हाथ से दूसरे के हाथ मे फेंका तो हम मे से कइयो का दिल बडा दुखी हुआ। "शरीर से और खास कर वृद्ध शरीर से क्या मोह लगाना जी!"—ऐसे शब्द हमारे कानो मे पडे? लेकिन मनुष्य जब किसी को प्रेम करता है, तो वह प्रेम सर्वाङ्ग होता है। इसलिए शरीर का भी प्रेमीजन आदर करते हैं। दूसरी बात, जब अर्थी को रास्ते पर ले जाया जा रहा था, तो एक दो दफा सैकडो लोगो ने जोर से तालियाँ दी। इससे भी हमे दुख हुआ, क्योकि तालियाँ देना तो कोई शोक प्रकाश करने की पद्धति नहीं है। जब कहा गया कि ऐसा नही होना चाहिए, तो किसी ने

कहा यह तालियाँ तो हम इसलिए पीट रहे है कि हम बताना चाहते हैं कि कवि रवीन्द्रनाथ जैसे महान् व्यक्ति को मौत कभी जय नही कर सकती। लेकिन मेरी तसल्ली तो इस दार्शनिक दलील से न हुई, मेरा दुख तो और भी अधिक हो गया।

मैने देखा कि अर्थी को लेकर खीचतान करने वाले और तालियाँ पीटनेवाले जो थे, उनमे एक बड़ी तादाद कॉलेजो के विद्यार्थियो की मालूम होती थी। अगर वे सचमुच अपने दिलो मे ऐसा विश्वास रख सकते कि शरीर से प्रेम करना तो मोह या माया है, और कवि रवीन्द्रनाथ जैसे अध्यात्मिक जीवन का एक ऊँचे दर्जे का पुजारी मृत्यु को वश मे कर सकता है, तो मेरे ख्याल मे इन दोनो सत्यो का प्रमाण उनको अपने शान्तिमय वातावरण से देना चाहिए था। शान्तिनिकेतन की आत्मा तो शान्ति को पसन्द करती थी या सगीत को। इसलिए अगर शान्तिमय वातावरण से नही, तो गुरुदेव के गीतो से ही अर्थी का आदर करते।

एक मिनट के लिए अगर हम ख्याल करे कि यदि गुरुदेव की मृत्यु विदेश मे—इङ्गलैण्ड या अमरीका मे होती, तो वहाँ के लोग किस गम्भीर शान्ति से अर्थी को स्मशान तक पहुँचा देते। ऐसा मालूम होता है कि हमारे चरित्र मे सयम या छन्द की कमी है। क्या इस कमी को पूरा करना हमारे स्कूल और कॉलेजो के शिक्षको का धर्म नही है!

अगर कोई कहे कि ७ अगस्त को कलकत्ते के लोग शोकमय प्रेम से पागल हो गये, तो भी समाज या सामाजिक सस्थाओं को उचित था कि लोगो को सयमित रूप से सगठित करके स्मशान की तरफ ले जाते। लेकिन उनकी भी कौन सुनता, जब हमारे लोगो मे अपने नेताओ या समाज-सेवको के इशारो या आदेशो को समझने या उन पर अमल करने की आदत पहले से ही न पड़ी हो।

स्मशान मे पहुँचने के बाद जब गुरुदेव की मृत देह चिता पर रख दी गई, तो किस असावधानी से लोगो ने बार-बार चिता तोड़ डाली, यह दृश्य देखकर भी कइयो को दुख हुआ। लेकिन दुख के आँसू कमल के

रूप मे बदल गये, जब मैने देखा कि चिता के आस-पास जो लोग खडे हुए थे, उनकी दौड़-धूप के कारण उनके पावों से जो कीचड़ उछली (क्योंकि उस वक्त बहुत बारिश हुई थी) उसका थोड़ा अश गुरुदेव के माथे पर पडा। वह दूर से एक तिलक की तरह मालूम होता था। फिर मुझे यकायक याद आया कि एक दफा गुरुदेव ने दो-एक मित्रो से कहा था कि श्वास बद होने के बाद जब उनकी मृत देह को अग्निमाता की गोद मे दिया जाय, तो पहले उनके माथे पर मिट्टी का तिलक जरूर किया जाए। उनकी वह इच्छा पृथ्वी माता ने पूरी की और अपने हाथ से उनको तिलक दिया।

गुरुदेव इस धरती को बहुत प्यार करते थे, इसीलिए तो उनकी कविताओ और गीतो मे उसके वैचित्र्यपूर्ण सौदर्य का बारबार वर्णन पाया जाता है। उनके माथे पर अगर पृथ्वी माता ने तिलक दिया, तो यह बिलकुल उपयुक्त ही था। वह तिलक था गुरुदेव के प्रकृति को प्रेम से जय करने का, और इसमे भारतवर्ष की सस्कृति का मूल-तत्त्व पाया जाता है। उनके शरीर को जब धरती माता ने वापस अपनी गोद मे ले लिया, तो अपने ऐसे प्रेमी पुत्र को तिलक देते समय उसने शायद ऐसा भी कहा हो—"पुत्र! दिग्विजय करके वापस आ गये? तुम बहुत थक गये होगे, इसलिए चलो बेटा, कुछ देर के लिए विश्राम कर लो।"

ऐसा विचार जब मुझे आया तो मै हँसा। क्योंकि मैने समझ लिया कि मृत्यु तो स्नेहमयी माता के समान है और स्नेहमयी माता से भी क्या कभी कोई डरता है? इस तरह मै रोया और मै हँसा। यही तो जीवन की लीला है। मुझे याद पड़ता है, इस वक्त प्रभु के प्रेम मे मस्त बगाल के एक फकीर का वह गीत, जो मैने तकरीबन २० वर्ष पहले शान्तिनिकेतन के नजदीक एक रास्ते पर सुना था। मूल गीत तो बँगला मे था, जो मुझे पूरी तरह से याद नही, लेकिन उसका भाव यह है :—

"मेरे प्रियतम! आज मै तुम से एक प्रश्न पूछूँ? उसका उत्तर दोगे न? मै सारा जीवन तेरी तलाश मे रोता रहा। मैने हजारो मोतियो जैसे

बड़े और चमकते आँसू बहाये है। वे सब मोती कहाँ गये? तूने ही चोरी किये होगे—तूने मेरा दिल भी चुराया और मेरे दिल का धन भी। मै अब तुझ से न दिल माँगता हूँ, न अपने दिल का धन। मै सिर्फ जानना चाहता हूँ कि तू मुझे बता दे वे मेरे आँसू कहाँ गये?"

प्रियतम ने जवाब दिया—'आ, तुझको बताऊँ तेरे आँसुओं को लेकर मैंने क्या किया। लेकिन तुझे मेरे बागीचे मे आना होगा। मेरे बागीचे मे जो इतने सुन्दर खिले हुए कमल तू देखता है, उन सबका बीज तेरे ही आँसू तो हैं।"

धन्य है यह जीवन का रोना और धन्य है जीवन का हँसना।

आधुनिक युग का एक पैग़म्बर

अपने चकाचौंध कर देने वाले वैभव और प्राचुर्य को लेकर भी वर्तमान समाज आज सुखी नही है—यह बात सभी स्वीकार करते है। नये सिरे से इसकी सत्यता प्रमाणित करने की जरूरत नही। हो सकता है, हमारे आर्थिक अथवा जातिगत सम्बन्धो का आधार अन्यायमूलक होने से ही हम आज दुःखी है। किन्तु इसका सच्चा निदान आज से वर्षों पहले हमारे युग के सबसे महान् सन्देशवाहक—रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इन शब्दो मे हमारे सामने प्रस्तुत किया था :—

"आधुनिक समाज मे अविच्छिन्न समग्रता का आदर्श आज निर्बल हो गया है इसीलिए उसके विभिन्न अग आज खण्ड-खण्ड होकर अपने मूलरूप को अपनी शक्तिमूलक प्रकृति को—ही प्रकाशित कर रहे हैं। श्रम एक शक्ति है, पूँजी भी शक्ति है, राजा-प्रजा, पुरुष-नारी सभी ऐसी ही शक्तियाँ हैं।"

समाज अंकगणित के जोड-बाकी वाले नियम पर तो खडा नही है, उस नियम के अनुसार उसका आकार छोटा बडा नहीं होता। वह केवल नाना व्यक्तियो का अर्थहीन, प्राणहीन समूह मात्र नही है, वह तो प्राणों के आभ्यन्तरिक विकास का परिचय है। जीवन और प्राण प्रकाशित होकर समाज का सगठन करते है। इसी कारण समाज की आत्मा पर एक 'सीमाहीन व्यक्तित्व' (Infinite Person) की छाप होनी ही चाहिए। तभी उसकी प्रकृति मे एक सघर्षहीन, विरोधशून्य भाव आ सकेगा। इस छाप के द्वारा समाज अपनी नुकीली तीक्ष्णताओ और विरूपताओ का परिहार करके अपने रूप को गोल और सुन्दर कर पाता है। उसकी आकांक्षाएं और प्रचेष्टाएँ इसी तरह एक हो पाती है। आज मानव और मानव को

प्रेम और मैत्री द्वारा जीवन्त प्राणी न समझ कर जो राजनैतिक शतरज के तखने पर निर्जीव मोहरे के रूप मे देखा जा रहा है, उसका कारण विज्ञान की एक प्रमुख मान्यता है। विज्ञान ने घोषित किया है कि मानव समाज का ध्येय और उसका भाग्य एक निर्मम निर्वैयक्तिक शक्ति के हाथो बन रहा है जिसके अकरुण अधपाश से किसी की निष्कृति नही मिल सकती।

ऐसी दशा मे ससार को अस्त व्यस्त और विभ्रम विमूढ देखकर आश्चर्य नही करना चाहिए। जब तक हम अपने भाइयो के भीतर की मानवीयता को आदर देना नही सीखते, तब तक मानो आदिकाल के पुराने और अन्धकारमय जङ्गल मे ठीक बर्बरो के ही समान रह रहे हैं। 'सर्वसत्तम को ही जीवित रहने का अधिकार है'—यह रक्त-पिपासु फिला-सफी हमे प्रेरित करती रहेगी। इसी कारण यद्यपि विज्ञान ने आकाश-पाताल को एक कर दिया है, असीम को भी माप लिया है, सुदूर स्थित देश-विदेशो को हमारे बाजू मे रहने वाला पडोसी साबित कर दिया है, फिर भी "मनुष्य के इस मिलन को भगवान् का आशीर्वाद नही मिला।"

आज के योरोप की ओर ही देखिए—मुर्गो की लडाई के मैदान जैसा दीख रहा है योरोप! एक ओर शक्ति-सत्ता के मद मे मत्त राजनैतिको की दल-बन्दियाँ हैं, दूसरी ओर शातिकामी मनुष्यो की टुकडियाँ है। सबसे दयनीय बात यह है कि इन दलो मे से किसी के भी पास "वह तीसरी आँख नही है जिसके द्वारा वे उन महाशक्तिशाली, अदृश्य हाथो को देख पाते जो चुपचाप आकर अनाथो और हतभागो के करुण हाथो को थाम लेते हैं और उपर्युक्त समय की धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते हैं।"

क्या आज वक्त नही आ गया है कि हमारे राजनैतिक नेतागण और समाज-परिचालक अन्त मे इस सत्य का अनुभव करे कि रचनात्मक शान्ति सृजनात्मक सुव्यवस्था का आधार ज्ञानपूर्वक मनुष्य के अन्तर मे जाग्रत रहने वाली आध्यात्मिक सत्ता और अखण्ड एकता पर ही खड़ा हो सकता है? 'अहकार' तथा 'अपहरण'—इन यमज भाइयो के हृदय मे जो ज्वालामुखी सुलग रही है—उसकी ओर क्या अब भी उनकी दृष्टि नही

जाएगी ? यदि वे इस बात को नही समझते, तो उन्हे और भी बड़ी खूनी लड़ाइयो के लिए—यहाँ तक कि आधुनिक सभ्यता के ध्वस के लिए—तैयार हो जाना चाहिए। कवि के शब्दो मे :—

"सशक्त के लिए निर्बल और अशक्त उसी प्रकार खतरनाक है जिस प्रकार हाथी के लिए निरीह बालू। वे प्रगति मे सहायक नही होते क्योकि वे विरोध नही करते। वे केवल पतन को नीचे उतार लाते हैं।"

अतएव विभीषिका से सावधान !

सूफ़ियों की संगत में

(१)

मेरे एक दोस्त के यहाँ एक दफा एक सूफी मेहमान ठहरे हुए थे। उनके बारे मे मैने ऐसा सुना था कि चालीस बरस तक उन्होंने एक जंगल में एक दरख्त के नीचे रह कर खामोशी की साधना की थी। एक दिन उन पर प्रभु की कृपा हुई और उनकी अन्दर की ऑखे और उनकी दिल की गॉठे सब खुल गई। इसलिए जब कभी उनसे कोई पूछता—"साहबे मन! आप अपनी साधना का मन्तर तो बताइये।" तो आप जवाब मे फरमाते—"अन्दर और बाहर से चुप रहने की कोशिश करो। जब तुम चुप रहना सीख जाओगे तो वह जो हर जगह मौजूद है, बाहर और भीतर भी, बोलना शुरू करेगा। अब तो तुम उसे बोलने का एक मौका तक नही देते।"

एक शाम मै उन्हीं सूफी साहब से मिलने गया। आप हुक्का पी रहे थे। आपके इर्द-गिर्द फ़रश पर एक हिन्दू, एक मुसलमान, एक पारसी और एक ईसाई साहबान बैठे हुए थे। सूफी साहब की ऑखें बन्द थी। मगर उनसे जो मिलने आये थे उनकी ऑखें खुली थी और सूफी साहब के चमकते चेहरे जमी हुई थीं।

एकाएक बरसात होने लगी मगर कुछ देर के बाद बरसात रुक गई तब सूफ़ी साहब ने अपनी ऑखें खोलीं और सब पर अपनी करम-कृपा की किरन डाल कर बोलने लगे—"अभी ही बरसात पड़ी थी। वह तो मालिक की दया की बरसात थी। किसी समन्दर के किनारे पर बरसों से जो एक सीप बरसात के एक कतरे के इन्तजार मे था आज उसके दिल की मुराद पूरी हुई होगी। बरसात का एक कतरा उसके मुँह मे पड़ा होगा और वह अब एक मोती बन गया होगा। लेकिन हम

सब पर मालिक की दया की बरसात कब पड़ेगी ? मगर पड़े भी कैसे क्योंकि हम सारा दिन ऐसी दौड़-धूप मे लगे रहते हैं कि हमे चुपचाप बैठकर इन्तजार करना आता ही नही और न ऐसा करने की कभी ख्वाहिश ही होती है। खुदावन्द-ताला से दुआ करना यानी खुदावन्द-ताला का इन्तजार करना है। मगर दुआ भी तो लोग करना नही चाहते वह तो काम के कैदखाने मे या तो बन्द रहते हैं और नही तो दाम मे फँसे रहते हैं।"

इतना कहकर सूफी साहब की आँखे फिर बन्द होगई । बंद होगई ? नहीं नही, अपने दिलबर के दीदार के लिए वे खुल गई क्योंकि दिलबर को तो सिर्फ बन्द आँखो से ही देखा जाता है न ! ऐसा है रूहानी जिन्दगी का करिश्मा ।

(२)

"यह लगन आपकी प्रभु से कब की लगी हुई है, भाई साहब ?" मैने अपने साथी से, जो मेरे साथ रेल मे सफ़र कर रहे थे, पूछा।

"तकरीबन तीस बरस से।" उन्होने जवाब दिया।

"और इस रास्ते पर पहले आपको कौन लाया ?" मैने फिर उनसे पूछा।

"जवाब मिला—"मेरा सात बरस का लड़का।"

"वह कैसे, भाई साहब ?"

"तो सुन लो मेरी प्रभु से 'प्रेम सगाई' की कहानी।

"आज से चालीस बरस पहले मै एक प्रोफेसर था। मुझे अपने इल्म पर बड़ा ही घमण्ड था और शास्त्रार्थ का तो मुझे एक खास शौक था। औरो को दलीलबाजी मे किस तरह से हरा दूँ इसी फिक्र मे मै दिन-रात रहता था। एक दफा हमारे शहर मे एक बड़े विद्वान् आये। उनसे आम लोगो के सामने मैने 'ईश्वर है या नही' इस मजमून पर दलील छेड़ी। आखिर मै बहस मे उनसे जीत गया। लोगो मे मेरी वाह-वाह होने लगी

और मेरे ग़रूर की तो कोई हद ही न रही, यहाँ तक कि मैने अपने घर के बाहर के दरवाजे पर बडे अक्षरो मे यह शब्द लिखवा दिये—

GOD IS NOWHERE

यानी ईश्वर कही भी नही है।

'इसके बाद मै अपनी नास्तिकता के नशे मे रात-दिन चूर रहने लगा।

'इतने मे मेरे घर मे एक लडका पैदा हुआ। मगर उसके पैदा होने से भी मेरे दिल मे प्रभु का या उसकी कृपा का रत्ती भर भी ख्याल न आया। वह जब साढे पॉच बरस का हुआ तो मैने उसे एक अँग्रेजी स्कूल में पढने के लिए भेजा। आहिस्ता-आहिस्ता वह अँग्रेजी के कुछ छोटे-छोटे फिक़रे पढ़ने लगा।

'एक दिन जब वह और मै शाम को सैर करके घर वापस आये तो वह घर मे दाखिल होने की जगह अचानक दरवाजे के बाहर खडा हो गया और जो शब्द उस पर अंग्रेजी मे लिखे हुए थे उन्हे चुपचाप पढ़ने लगा। फिर मेरी तरफ देखकर कहने लगा—

"पिताजी, मै बताऊँ दरवाजे पर क्या लिखा हुआ है?"

"अगर बता सकते हो तो बताओ, बेटा!" मैने जवाब दिया।

"फिर वह शब्दो को एक-एक करके पढ़ने लगा। उसने उन्हे इस तरह पढा—

GOD IS NOW HERE

यानी ईश्वर अब यही ही है।

"मालूम नहीं क्यो, अपने बेटे को इन शब्दो को इस तरह पढते देखकर मेरे सारे जिस्म मे एक किस्म की बिजली दौड उठी और मेरे मुँह से अपने आप यह शब्द निकल पडे—"बात तो बिलकुल सही है।' उस वक्त से मुझे एक किस्म की बेचैनी का बुखार चढ गया और सारी रात उस बुखार मे मै पड़ा रहा। सुबह हुई, अभी घर के लोग सोये हुए ही थे कि मैने अपने बाहर के दरवाजे पर जो शब्द लिखे हुए थे उन्हे जिस

तरह मेरे बेटे ने पढ़ा था, सुधार दिया। और फिर घर से बाहर निकल पडा बरसो तक एकात मे दुनिया से दूर रहा और जब दिल ने पूरी-पूरी गवाही दी कि ईश्वर है और हर जगह है तब मै एकान्त से बाहर निकल कर फिर दुनिया मे वापस आया और आजकल जब कभी भी कोई मौका मिलता है तो दुनिया के लोगो से 'प्रभु हैं' ऐसी बाते करता हूँ, और हमेशा प्रभु के प्रेम का गीत गाता रहता हूँ।"

तब जिस स्टेशन पर उन्हे उतरना था, वहाँ गाडी आ पहुँची, और वे अपनी जगह से उठकर गाडी के बाहर निकले। मैने उन्हे प्रणाम किया। उन्होने मुझे आशीर्वाद दिया और कहा—"बेटा, तुम्हे भी प्रभु को पहचानने की बेसबरी और बेचैनी का बुखार जल्दी ही और जोर से चढे।"

यह उनका आशीर्वाद कब फलेगा, यह तो मै नही कह सकता, हाँ, इतना जरूर कहूँगा कि उनका यह आशीर्वाद मै अपने जीवन की एक बहुत बडी और कीमती बख्शिश समझता हूँ।

(३)

आधी रात का वक्त था। सारी दुनिया सोई हुई थी। सिर्फ आसमान के तारे और प्रभु के प्यारे जाग रहे थे। एक ऐसा ही प्रभु का प्यारा एक दरख्त के नीचे अपना मुँह अपने घुटनो के बीच दबाकर बैठा हुआ था। जब करीब-करीब दो घटे गुजर चुके तो उसने अपना सिर ऊँचा किया और अपना इकतारा, जो उसके पास ही पड़ा हुआ था, उठाकर उसके साथ कुछ गाने लगा और नाचने भी लगा। उसके गाने मे मिठास तो थी ही, पर एक चुम्बक जैसा असर भी था।

मै कुछ देर तक उसका गीत सुनता रहा। आहिस्ता-आहिस्ता उसका मतलब क्या है, मुझे मालूम पड़ा। उस गीत का मतलब कुछ इस तरह का था—

"प्रभु, आज मै तुमसे एक सवाल पूछता हूँ। उसका जवाब तुम्हे

देना ही होगा। और अगर उसका जवाब मुझे तुमने न दिया तो फिर तुम्हारी और मेरी दोस्ती मे कुछ फरक आ जाने का डर है।

मेरा सवाल यह है। मैने अपनी जिन्दगी मे निराश होकर सैकडो आँसू बहाये है। अब तुम मुझे बताओ कि मेरे वे आँसू कहाँ गए। क्या वे सिर्फ मिट्टी मे ही मिल गए?"

(प्रभु सवाल का जवाब देते हैं) "इससे पहिले कि मै तुम्हे बताऊँ कि तुम्हारे आँसू कहाँ गए, तुम्हे मेरी तरफ आना होगा—जहाँ मै खडा हूँ। और उस तरफ़ जहाँ तुम अब खडे हो और अपना सवाल पूछ रहे हो—नजर करनी होगी। हाँ, अब कहो, क्या तुम्हे अपने आँसू कही नजर आते हैं?"

"नही, मुझे तो आँसुओ के बदले कुछ कमल के फूल नजर आते हैं।"

तो बस अब तुम्हे तसल्ली हो गई कि तुम्हारे आँसू कहाँ गए और उनका क्या हुआ?"

'हाँ, प्रभु, अब मै समझा। तुम कोई ऐसी कीमिया जानते हो जिससे निराशा को आशा मे बदल देते हो।"

तब उस प्रभु के प्यारे ने अपना गीत गाना और नाचना बन्द किया। तारो ने अपनी चौकीदारी पूरी की और अपने घरो को वापस चले गए। मै भी अपनी झोपड़ी की तरफ़ हो लिया। अभी मै रास्ते मे ही था कि मुझे अंग्रेजी की एक कहावत याद आई। और जब तक मै अपनी झोपड़ी मे न दाखिल हुआ, तब तक वह कहावत मेरे कानो मे गूँजती रही—

"मेन्स डिसएप्वाइन्टमेन्ट इज़ गॉड्स एप्वाइन्टमेन्ट।" यानी—

जब कभी इनसान होता है निरास
तो समझ ले वो प्रभु है उसके पास

(४)

एक दफ़ा समुन्दर के किनारे मै अकेला सैर कर रहा था। रात बहुत बीत चुकी थी। करीब-करीब सब के सब लोग, जो वहाँ सैर करनेये आ

थे, अपने-अपने घर वापस चले गये थे। एकान्त मे बैठकर मै आनन्द लूट रहा था कि मालूम नही कहॉ से एक फकीर, जिसने मैले-कुचैले कपडे पहन रखे थे, मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। उसे देख कर मुझे बडी हैरानी हुई। क्योंकि उस वक्त समुन्दर का किनारा बिलकुल खाली था। तो यह फकीर कहॉ से आ गये? मगर इस सवाल का तसल्लीबख्श जवाब उस वक्त मै अपने आपको न दे सका। फिर उनकी इज्जत करने की खातिर मैने अपने दोनो हाथ जोड़े और सर झुकाया। फिर मैने उनसे बडे अदब के साथ उनका नाम पूछा।

"मेरा नाम?" उन्होने मेरा सवाल दोहराते हुए कहा—"मै खुद वह नही जानता, तो तुम्हे क्या बतलाऊँ?"

"आपने क्या फ़रमाया? मै आपके कहने का मतलब कुछ समझा नही।" मैने नम्रता से कहा।

उन्होने जवाब दिया—"मै खुद भी तो जो कुछ तुम्हें कह रहा हूँ उसका पूरा-पूरा मतलब बडी मुद्दत तक नही समझ सका था। मगर हाल ही मे एक खुदा के बन्दे ने इसका मतलब मुझे समझाया है और तब से मै दिन-रात अपने नाम की तलाश मे इधर-उधर भटकता हूँ।"

"तो क्या मेहरबानी करके आप मुझे भी नाम का राज समझाएँगे?"

"क्यों नही।" उन्होने जवाब मे कहा—"क्योकि जो कुछ एक खुदा का बन्दा कहता है वह सब के लिए होता है। तो सुनो: हर एक आदमी के दो नाम होते हैं। एक वह जिससे दुनिया उसे बुलाती है या पहचानती है और दूसरा वह जिससे खुदा उसे बुलाता है और पहचानता है। यह दूसरा नाम ही सच्चा नाम है। इनसान जो प्रार्थना पूजा करता है वह सिर्फ इसलिए ही कि किसी शुभ घडी मे वह प्रभु को अपने को बुलाता सुन ले और इसी तरह अपना सच्चा नाम जान ले। हर एक के लिए खुदा ने एक खास नाम रखा हुआ है जैसे हर एक घर मे मॉ-बाप अपने बच्चो को अलग-अलग नाम से बुलाते हैं। दुनिया के लोग अकसर नाम पाने या करने की दौड़-धूप मे लगे रहते हैं। क्या ही अच्छा हो अगर

वे अपना सच्चा नाम पाने या जानने के लिए रात-दिन तड़पे। मगर औरों से मुझे क्या मतलब मुझे तो अपना नाम तलाश करना है और इसी तलाश के सिलसिले में ही कभी-कभी मैं यहाँ इस समुन्दर के किनारे अकेला आधी रात गुजर जाने के बाद आया करता हूँ। आज तक तो मुझे यहाँ इस वक्त कोई नहीं मिला मगर मालूम नहीं तुम कहाँ से आज यहाँ टपक पड़े। क्या तुम भी अपने सच्चे नाम की तलाश में मेरी तरह इधर-उधर भटकते रहते हो ?"

मैं कुछ जवाब न दे सका। सिर्फ मेरी दोनों आँखों से आँसू छल-छल बहने लगे और जब मेरी आँखें धुल कर कुछ साफ हो गईं तो मैंने आसमान के तारों की तरफ ताका और पूछा—"भला तुम ही मेरा सच्चा नाम बता दो।"

(५)

शाम का वक्त था। एक पहाड़ी की चोटी पर एक खुदा के बन्दे के इर्द-गिर्द कुछ लोग बैठे हुए थे। सब की आँखें डूबते हुए सूरज पर लगी हुई थीं। ज्यों ही सूरज डूब गया, उस खुदा के बन्दे ने अपना सर ऊँचा किया और आये हुए लोगों से पूछा—"यह खुशबू कहाँ से आ रही है ?" उन का यह सवाल सुनकर सुनने वाले जरा हैरानी में पड़ गए क्योंकि उनमें से उस वक्त किसी को भी किसी किस्म की खुशबू नहीं महसूस हुई थी। इसलिए उनमें से एक ने हिम्मत कर के थोड़ी देर के बाद जवाब दिया—"साहबे मन ! यहाँ तो किसी किस्म की खुशबू हमें महसूस नहीं हो रही।"

"खूब रही।" खुदा के बन्दे ने कुछ मुसकरा कर कहा—"तुम कहते हो किसी किस्म की खुशबू तुम्हें महसूस नहीं हो रही और मुझे तो करीब एक आध घंटे से हर तरफ से गुलाब के फूलों की खुशबू ने समझो मस्त और मतवाला कर दिया है।"

"गुलाब के फूलों की खुशबू ?" एक दूसरे की तरफ नजर करते हुए उनके आस-पास बैठे हुए लोगों में से एक ने शक के लहजे में कहा।

"हाँ, हाँ" खुदा के बन्दे ने जवाब दिया—"गुलाब के फूलो की खुशबू! मगर तुम लोगो ने तो सिर्फ बाहरी बाग के गुलाब के फूल ही देखे हैं इसलिए तुम्हे तो किसी और किस्म के गुलाब के फूल का ख्याल ही क्या आ सकता है मगर हर एक इन्सान के अन्दर भी एक बाग है वहाँ किस्म-किस्म के फूल उगते हैं और उनकी खुशबू हर एक इन्सान को कभी न कभी महसूस होती ही है। जब वह किसी से सच्ची मुहब्बत करता है या किसी की सचाई से खिदमत करता है या किसी के लिए दिल व जान से कुरबानी करता हैं उस वक्त उसे इस अन्दरूनी बाग के फूलो की खुशबू महसूस होती है। अगरचे बहुत दफा वह उसे पहचान भी नही सकता। उसे एक अजीब किस्म की खुशी मालूम होती है मगर वह नही जानता कि इस खुशी का मूल उसके अपने दिल के बाग की खुशबू ही है। इनसान की रूह क्या है? अगर वह एक फूल नही जिसे खुदावन्द ताला ने अपने दिल के बाग में से उखाड कर उसके दिल मे लगा दिया है, तो वह और क्या है, और मुहब्बत क्या है? इनसान की रूह की खुशबू। और जहाँ-जहाँ और जब-जब—जैसे कि इस वक्त तुम लोगो और मेरे बीच मे बँधा है, एक रूहानी रिश्ता (दुनियावी रिश्ता नही) बँध जाता है तो उस वक्त इस अन्दरूनी बाग के फूलो की खुशबू लोगो को महसूस होती है।"

शिक्षा का मर्म

इधर पिछले कुछ बरसो से हमारी पाठशालाओ मे एक नये विचार का प्रवर्त्तन हुआ है, जिसे संक्षेप मे इस तरह कह सकते है कि शिक्षा मे 'पढाई' की अपेक्षा 'क्रिया' पर जोर दिया जा रहा है। सम्भव है कि अभी इतने अर्से तक जो शिक्षक छात्र के मस्तिष्क पर ही आवश्यकता से अधिक भार लादे जा रहे थे और उसके सन्तुलन को बेडौल किये हुए थे, वे अब यह महसूस करने लगे है कि विद्यार्थी सिर्फ़ सिर-ही-सिर से नही बना होता, प्रत्युत उसके हाथ-पैर और हृदय भी होता है। लेकिन अब इससे पलड़ा बिलकुल दूसरी ही तरफ झुक गया है। पढाई की ओर उदासीनता बढती जा रही है और क्रिया-कलाप का बोलबाला उचित से अधिक होने जा रहा है। लेकिन साथ-ही-साथ शिल्प-साहित्य-सगीत की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है और आशा है कि शायद इस रास्ते मनुष्य के हृदय का अधिकाधिक उन्नयन हो सकेगा, जिससे सन्तुलन फिर ठीक हो सके।

जहाँ तक शिक्षा मे 'क्रिया' का सवाल है, शिक्षा का ध्यान उसके एक सूक्ष्म पहलू की ओर शायद कम ही गया है। पाठशाला मे शिक्षक अपने मस्तिष्क या हाथो का प्रयोग तो करता होता है, किन्तु प्रश्न यह है कि वह स्वय क्या है? अपने को क्या बना सका है? कारण, सच पूछा जाय, तो शिक्षा के मर्म मे शिक्षक का व्यक्तित्व ही बड़ा होता है। दूसरे शब्दो मे शिक्षक और छात्र के बीच एक जीवन्त योग होना चाहिए। प्राणो से प्राणो का सजीव सम्पर्क पढाई या पाठ्य-विषय से ज्यादा जरूरी है। इसलिए यह नितान्त अनिवार्य है कि शिक्षक अपने आपको अपनी हथेली पर रखकर परखे, पहचाने, अपने को तिल-तिल करके निरन्तर गढ़ता चले, पूर्णता का प्रयासी साधक बना रहे।

जब तक शिक्षक जाने अनजाने हमेशा अपने को इस तरह बनाता हुआ न चलेगा, तब तक उसकी किताबी योग्यता, उसकी उपाधियाँ छात्र के किसी काम न आएँगी। तब तक वह उनके निकट एक जीवन्त, प्राणवान पाठ्य-पुस्तक की तरह उनके चरित्र-गठन का सम्पादन न कर सकेगा। इतना ही नहीं, उसके अपने दोष और त्रुटियाँ उसके सँवारे

रूप के आवरण के नीचे से सिर उठाकर झाँका करेंगी और उसके बिना जाने विद्यार्थियो के सवेदनशील व्यक्तित्व को प्रभावित किया करेंगी । इसका प्रमाण खोजना चाहे, तो आप ईमानदारी से छात्रो की विशेष-विशेष खामियो की जाँच करके देखे । आप पायेंगे कि इन खामियो का सूत्रपात—हजार आँख की ओट होने पर भी—दरअसल अक्सर शिक्षक के व्यक्तित्व से ही शुरू हुआ करता है ।

इस व्यवधान के लिए अकेला गुरु ही दोषी नही । जीवन-संग्राम के कठिन सघर्ष मे उसे इतना अवकाश ही नही मिलता कि वह अपने को इस तरह गढ़ सके, जिस तरह शिल्पी अपनी सामग्री को गढता है । वह अपने चित्त, प्राण, बुद्धि और भावो का मनचाहा निर्माण करने योग्य सुयोग ही मुश्किल से पाता है । शिक्षा एक प्रकार की सामाजिक प्रक्रिया है, समाज-सेवा का एक प्रधान माध्यम है, अतएव समाज भी इसका दोप-भाजन है । शिक्षक अधर मे लटकनेवाला जीवधारी तो है नहीं । वह सामाजिक परिवेश मे जीता है, उसी की मिट्टी, हवा-पानी और आर्थिक-नैतिक परिस्थिति से प्रभावित होता है । समाज की आशा-आकाक्षाओं, उसके आदर्श और व्यवहार अथवा गुण-दोप—सभी मे उसका हिस्सा होता है । यदि समाज पैसे को अपना आराध्य अथवा उसे व्यक्ति की योग्यता का मानदण्ड समझता होगा, तो आश्चर्य नहीं यदि वह अध्यापक को भी समाज का एक अनुर्वर प्राणी-मात्र समझता हो !

यदि शिक्षक के व्यक्तित्त्व और विकास का कोई महत्त्व है, तो समाज अथवा सरकार का भी यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह प्रतिदिन अपने शिक्षक-वर्ग को इतना अवसर और अवकाश दे, जिससे वह अपनी आत्मा के आलोक मे उठ-बैठ सके, उसके व्यक्तित्त्व का जो-कुछ श्रेष्ठ है, सत्य है, शिव और सुन्दर है, वह ओस और धूप मे बढनेवाले फूल को तरह विकसित हो सके । तभी वह कवि की भाषा मे गा सकेगा ।

"मुझे देखनेवाली ये सख्यातीत आँखे मेरी ही हैं । इन्हीं आँखो के अनन्त आकाश मे भटककर मैने उस चिरपुरातन, सीमाहीन मुहूर्त्त को पाया है, जो ईश्वरीय है—मनुष्य मे मैने परमात्मा का संधान पाया है ।"

समसामयिक भारतीय साहित्य का विकास

भारतवर्ष के नाना जनपदो का साहित्य एक ही मालिक की अधीनता मे पलने बढने वाले उद्यानो की तरह है। अपने जाने मे हो या अनजाने मे, हमारे प्रातीय साहित्यो को परिचालित करने वाली प्रेरणा युगो-युगो से इसी देश की विशिष्ट सस्कृति से आई है। यह सस्कृति सारे महादेश को एकता के सूत्र मे गूँथने वाली सस्कृति और सामजस्य की सस्कृति है। अथर्व के गायन ने आज से शताब्दियो पहले कहा था कि वे हम सबको अपनी चिन्ता और आनन्द का सहयोगी बनाने की भावना करते है।

"सध्रीचीनान्वः संमनस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ।।"

—३—३०—७

यह ठीक है कि आज जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण बदल गया है। आज का लेखक अपनी बुद्धि के अणु-वीक्षक यत्र के द्वारा जीवन को देखता है और उसके असख्य सूक्ष्म रूपो के प्रति आकृष्ट होता है। उसके मुग्ध नयन जीवन के अभिनय-दर्शन पर रीझे होते है। फलतः वह किन्ही विशेष रूपो मे ही उलझ जाता है जो जगत् के प्रति उसके भावो और विचारो का निर्माण करते है।

लेखक अपने आसपास की दुनिया की उपज होता है। न जाने किस अनादि काल से उसकी यह प्रान्तीय दुनिया देश की सभ्यता से प्रभावित होती आ रही थी। कुछ दशाब्दियो से इस सभ्यता के साथ पश्चिमी सभ्यता का वैज्ञानिक जीवन-दर्शन भी आ मिला जिसने प्राचीन सस्कृति मे एक विक्षोभ ला दिया। रूढियाँ विचलित होने लगी।

लेकिन आज उसकी हालत बहुत-कुछ उस आदमी की तरह है जिसने पहली बार कोई नई शराब ढाली हो। वह अपने वश मे नही, उसके पैर

लडखडा से रहे हैं। नाना परिवर्तनशील प्रतिक्रियाओं मे वह ठहरा नही पाता कि किन से मेल करे और किन से टकराये, किन्हे जोडे और किन्हे छोडे। इसीलिए समसामयिक भारत की प्रातीय साहित्यसृष्टि का कोई स्थिर मूल्य आँकना इतना कठिन हो गया है।

ऐसा जान पडता है कि उसे प्रभावित करने वाली शक्तियो मे साधारण पाठक की बुद्धि और भाव उस पर गहरा असर डाल रहे है—इस साधारण पाठक की जिसे आज सबसे अधिक अर्थनैतिक या राजनैतिक चश्मे से देखा जाता है। यही कारण है जो आज का लेखक समुदाय अपने काव्य मे, कहानी मे, नाटक और निबंधो मे उसी साधारण मनुष्य की लीला बखाना करता है। खासकर औद्योगिक केन्द्रो या व्यावसायिक बस्तियो के आस पास रहने वाला लेखक इसी भावना से परिचालित है। और इससे इनकार नही किया जा सकता कि किताबो मे लिखा या छापा जाने वाला अधिकाश साहित्य आज प्रधान रूप से नगरों का साहित्य है।

लेकिन भारतवर्ष तो शहरो मे ही नही बसा। उसकी माया और प्राण गाँवो मे बसते हैं। खेत-खलिहानो की शोभा और सुरभि हमारे देश-भर मे व्याप्त है। इन भारतीय गाँवों का मूल जीवन प्रायः वही है, उसमे कोई बुनियादी अन्तर नही आया। वे आज भी हलधारी हैं और आसमान के ताराओ से ही अपनी गणना करते है। उनकी बुद्धि पर आज भी अशिक्षा का मेघ छाया है उसके अन्धकार ने वैज्ञानिक सभ्यता को अपने घटाटोप मे नही घुसने दिया। हमारा वर्तमान नागरिक साहित्य सर्वसाधारण के जीवन का प्रतिबिम्ब आज भी नही बन सका है। इसीलिए हमारे प्रान्तो का साहित्य अधूरा है। एक तो इसलिए कि उसमे समूचे देश की जनता का हृदय नही धडकता, राष्ट्रीय वैभव उसमे नही झाँकता, दूसरे इसलिए कि उसका आधार रुचि और आदर्श की किसी उत्तरोत्तर ऊँचे चढ़नेवाली सीढियो पर से अग्रसर नही हो रहा—जीवन की किसी निर्दिष्ट रूपावली की बुनियाद पर नही खडा होता।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आज हमारे देश की विभिन्न भाषाओ

के साहित्य की इकाई नगरो की वह सभ्यता या सोमित संस्कृति बनकर रह गई है जिसमे मनुष्य केवल पेट भरने की फिक्र मे लगा है या राजनीतिक अधिकारो के पीछे पागल है। पेट और राजनीतिक का अपने आपमे कोई अत्यधिक मूल्य नही होता वे साधन हैं, साध्य नही। साध्य है मनुष्य का सर्वांगीण मङ्गल।

ऊपर जो आलोचना की गई है वह आलोचना नहीं, एक दृष्टिकोण है, एक सुझाव की सूरत है। भारतीय साहित्य मे भारत की बहुविचित्र संस्कृति के मर्म मे निवास करनेवाली एकता होनी चाहिये, भारत के ऐक्य की घोषणा होनी चाहिये। तर्क के दॉव-पेंच से हम इस सुदृढ़ ऐक्य को—सास्कृतिक आधार को धुँधला नहीं कर सकते। यह ऐक्य नाना रूपों मे अपनी छटा दिखा सकता है किन्तु ये रूप उसी एकता के वैभव को व्यक्त करते हैं जो एकता भारतीय नगरो से लेकर ग्रामो तक अन्तः-सलिला के समान धारावाहिक रूप से बहती आ रही है। साधक रज्जब जी की उस बानी को हम भुला नही सकते कि नाना प्रदीपो मे नाना प्रकार के तेल ढाले जा सकते हैं, उनकी बातियॉ भी कई तरह की हो सकती हैं लेकिन जब उनकी लौ उठती है तो वह एक ही प्रकाश को अपने चारो ओर फैलाती है। हमे अपने प्रातीय साहित्यो मे इसी उज्ज्वल आलोक की आवश्यकता है।

प्रथम अखिल-भारतीय साहित्यकार-सम्मेलन*

छः अन्धे और एक हाथी की कहानी हमारे यहाँ स्कूल के विद्यार्थी भी जानते हैं। लेकिन उससे हमे जो नसीहत मिलती है, उसे विद्यार्थी तो क्या, बडे भी अक्सर भूल जाते हैं। किसी व्यक्ति, विचार या घटना के केवल थोडे-से अंश को ही प्रत्येक व्यक्ति देख या अनुभव कर पाता है—यह देखना चाहे बाहर की आँखो से हो या दिल की दृष्टि से—यही उस पुरानी कहानी की प्रधान शिक्षा है।

पी० ई० एन० के भारतीय केन्द्र ने इस बार अक्तूबर के उत्तरार्ध मे जिस अखिल-भारतवर्षीय साहित्यकार-सम्मेलन का विशाल आयोजन किया था, उसे भी हम लोग विभिन्न दृष्टिकोणों से देख सकते हैं। यह कोण कितने अंश का होगा, यह तो दर्शक की अपनी चारित्रिक विशेषता पर निर्भर करेगा। फिर भी इस बात पर तो सब लोग एकमत होगे ही कि इस सम्मेलन का आयोजन अपने-आप मे हमारे देश के समसामयिक साहित्य के इतिहास की एक स्मरणीय घटना हुई है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से सम्मेलन मे तीन प्रधान धाराएँ देखने मे आईं और इनके प्रति सम्मिलित समाज की प्रतिक्रिया भी कई प्रकार से हुई। ये धाराएँ साहित्य-सृष्टि की आत्मा तथा अर्थशास्त्र के प्रश्नो को लेकर उठी थीं। वाणी के प्रजातन्त्र के अनुभवी सयानों ने यह घोषणा की कि सृजन की शक्ति सत्य के सौन्दर्यमय दर्शन मे ही निहित है, रचना की शर्त्त सौन्दर्यमय सत्य का साक्षात्कार है। दूसरी ओर नव्य उत्साहियो ने अपना स्वर ऊँचा किया कि सत्य को दीवानखाने के बाहरी हिस्से मे तब तक के

---

*यह सम्मेलन सन् १९४५ में श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में जयपुर मे हुआ था।

लिए रोक रखना होगा, जब तक कि हमने अपनी जमीन का चप्पा-चप्पा न जाँच लिया हो—अर्थात् वास्तु-सत्य की पूरी-पूरी पडताल सृष्टि के लिए सबसे पहले आवश्यक है। जो लोग इन दोनो दलो के बीच मध्यममार्गी थे, उन्होने रोटी और सौन्दर्य, पेट की भूख और आत्मा की क्षुधा—दोनो की महिमा स्वीकार की। साहित्यकारो के सम्मेलन मे प्रतिनिधित्व करनेवाले कवियो, दार्शनिको, सम्पादको, कहानीकारो—सभी ने अपने-अपने ढग से उपर्युक्त तीनो धाराओ का सचालन किया। (कुछ ऐसे भी वहाँ थे, जो न-कुछ होते हुए भी सब-कुछ बन गए थे)। जो हो, सभी प्रकार के मानदण्डो पर विचार किया गया और विचार-विनिमय हुआ।

इन तीनो धाराओ को उस समय सबसे अधिक स्पष्टता से उपलब्ध किया गया, जब भारत की विभिन्न भाषाओ की साहित्यिक प्रगति का सिहावलोकन किया गया। यह भी एक प्रकार से एक अपूर्व घटना थी। सम्भवतः पहली बार सभी साहित्यिक एक ही कुटुम्ब के विभिन्न सदस्यो की भाँति एकत्र हुए थे। सबने मिलकर अनायास ही तुलना की कि अन्यान्य क्षेत्रो मे लोग क्या कर रहे है, हवा का कैसा रुख है। सबने अनुभव किया कि एक ही जमीन के वे सभी खेतिहर है—खेती चाहे अलग-अलग चीजो की हो और उसका तौर-तरीका भी अलग हो। जो लोग शिल्प की दृष्टि से साहित्य से सम्बद्ध थे, वे भी उपस्थित थे और जो वाणिज्य की दृष्टि से उससे विजड़ित थे, वे भी। इस प्रकार भी यह सम्मेलन अपूर्व था।

किन्तु क्या साहित्य-सृजन शिल्प है अथवा वाणिज्य? वह जमाना लद गया, जब कि साहित्यकार को किसी-न-किसी राजा या धनीमानी व्यक्ति अथवा किसी एकेडेमी का आश्रय सुलभ था। आज वह उन आश्रय-दाताओ की प्रसन्नता की उपेक्षा कर सकता है और अपनी आत्मा के निभृत एकान्त मे रचना करता रह सकता है। किन्तु आज उसे जीविका भी तो जुटानी पडती है। और चूँकि वर्तमान समाज उसे आज भी

अपना कोई उपयोगी या अपरिहार्य अंग नही मानता, इसलिए आज का साहित्यकार केवल साहित्य-रचना को ही जीविका का साधन नहीं मान सकता। लिखना आज भी उसके लिए एक विनोद की सामग्री है, जिसे अंग्रेजी मे 'हॉबी' कहते हैं। बाजार मे इस लिखावट का खास कोई मूल्य नही। लेकिन क्या मूल्य होना भी नहीं चाहिए? वह तो अमूल्य है! तब क्या शोषकवर्ग के अन्याय से उसकी रक्षा भी नहीं करनी चाहिए? सम्भवत. वृद्ध मनीषी कार्लाइल ने ही तो कहा था कि 'दुनिया केवल लूटनेवाले की दूकान नहीं है।' इस सम्मेलन ने एक होकर स्थिर किया कि साहित्यकार के 'स्वार्थों' की समुचित रक्षा होनी चाहिए, उन्हें अपने श्रम का उपयुक्त पारिश्रमिक मिलना चाहिए। इस मॉग को उपस्थित करने का समय आ पहुँचा है। कापीराइट-विषयक कानून पर विचार करने के लिए सम्मेलन ने ऐसे सदस्यो की एक सब कमिटी संघटित की, जो साहित्य के भी जानकार हैं और कानून के भी। यह इस सम्मेलन की तीसरी विशेषता थी।

चौथी खासियत यह थी कि देश और विदेश में भारतीय साहित्य के प्रचार तथा परिचय के लिए सम्मिलित प्रयत्नो की आवश्यकता महसूस की गई। प्रामाणिक अनुवादों की जरूरत को सबने स्वीकार किया। इस उद्देश्य से एक सामयिक पत्र के प्रस्ताव पर विचार किया गया, जिसमें साहित्यकारों की फुटकर रचनाओं के अनुवाद छपते रहे—पुस्तकाकार छपने की बात तो सर्वसम्मति से पास हो ही गई। एक सुयोग्य उपसमिति इन सब प्रश्नों पर भी विस्तार से विचार करने के लिए गठित हुई। एक विश्वकोष की रचना का प्रस्ताव भी सामने आया, जिससे शिक्षित और साहित्यिक दोनों वर्गों के लिए ज्ञान का भाण्डार सुलभ किया जा सके। देश की विभिन्न भाषाओं के साहित्यो को यह कोष निकट ला सकेगा और भारतवर्ष की सभ्यता तथा सस्कृति का सश्लिष्ट परिचायक होगा। इस प्रकार नाना दृष्टियों से देश के आदर्शवादी और यथार्थवादी, अतीत के प्रशसक और वर्त्तमान के पक्षपाती, पुराने और नये, अनुभवी और

उत्साही—सभी विचार-विनिमय के लिए एकत्र हुए। और यह एकत्र होना ही अपने-आप में कम महत्त्व की घटना नहीं थी।

जयपुर-राज्य की शानदार आतिथेयता ने मानो एक बार फिर हमें स्मरण करा दिया कि साहित्य का शिल्प अवकाश के उदार वातावरण में उन्मुक्त पंख फैलाया करता है। किन्तु राजाश्रय से आज कहीं अधिक आवश्यक शायद वह अबाध स्वतन्त्रता है, जिसमें साहित्यकार जीवन के स्वप्न और यथार्थ दोनों की व्याख्या करता है, सुन्दर की सृष्टि करता है, जीवन के सत्य का अपने ही ढग से सन्देसा सुनाया करता है।

सम्भवतः यह पहली अखिल-भारतीय साहित्यकार-सम्मिलनी एक संकेत-निर्देशक की तरह हुई—गन्तव्य तीर्थ-स्थल की तरह नहीं। तब भी यह उसका बहुत बड़ा कृतित्व है कि उसने उन सब धारणाओं-समस्याओं, जो आज साहित्य-जगत् में उठती हैं, इत्यादि पर विचार किया—उनकी ओर निर्देश किया (चाहे उन सबका सदा के लिए समाधान न भी किया हो)। और उचित भी यही है। जीवन के समान साहित्य भी नदी की प्रवाहमान धारा की ही तरह है, जो सदा जाग्रत रहती है, चंचल रहती है; किसी बन्द तालाब के भीतर सदा के लिए आबद्ध रहनेवाली जलराशि वह नहीं है।

संस्कृति

"सस्कृति तू ज़रा अपना रूप तो दिखला, और अपना भी !" मैंने सस्कृति-देवी से नम्रता पूर्वक निवेदन किया।

मगर देवी जी तो मिसर देश की मशहूर "स्फिङ्क्स" (मूर्तिमान मौन) की तरह अपने होठो पर ताला लगाये मेरे सामने खड़ी ही रहीं, इसलिए उनको मनाने के लिये मैने उनके चरण स्पर्श किये, और इस आशा मे कि मेरे, उनके चरणो को बड़ी कोमलता से हिलाने पर शायद उनका दिल भी हिल जाये, मै कुछ देर तक अपना मुँह नीचे किये हुए उनकी छाया मे चुपचाप बैठ गया।

मगर देवी जी कहाँ मानने को तैयार थीं, न उनका दिल हिला और न ही उनकी जबान।

फिर मै अपने आप को कोसने लगा, "ऐसा मालूम होता है कि मै देवी जी का सच्चा सेवक (भक्त) नही हूँ। अगर होता, तो वह जरूर ही मेरी प्रार्थना स्वीकारती और मेरे प्रश्न का जवाब देती।"

तब मैने रोना शुरू किया, क्योकि इनसान की आखरी दलील जब वह निराश हो जाता है, है "आँसू !" सो अपने आँसुओ को एक माला बना कर मैंने देवी जी के गले मे पहना दीं।

इस वक्त देवी जी की जान मे कुछ जुंबिश दिखलाई दी। मेरी निराशा आशा मे बदलनी शुरू हुई, मेरी चेतना आनद से उज्जवल होने लगी, और इन सब बातो से मुझे ऐसा मालूम हुआ कि देवी जी अब कुछ बोलने को तैयार हैं।

आखिर को मेरी उम्मीद पूरी हो हुई।

देवी जी के होठो पर पड़ा ताला खुल गया और उन्होने कहा,

"मेरा रूप-रंग क्या देखना चाहते हो ? मेरा राज समझने की कोशिश करो। सस्कृति का राज़ है : सम् करोति—जो सबसे मिलकर किया जाता है या पाया जाता है या जो सबको "सम"—एक समान बनाती है, वह है सच्ची संस्कृति, वह हूँ मै।"

संस्कृति क्या है ?

संस्कृति का अर्थ है सत्य, शिवं, सुन्दर और अद्वैतम् के लिये अपने मस्तिष्क और हृदय मे आकर्षण अनुभव करना, उनसे प्रेम करना और अभिव्यजन के द्वारा उनकी प्रशसा करना। हर एक व्यक्ति कभी न कभी उनकी तरफ आकर्षित तो होता ही है, लेकिन उस आकर्षण को स्थायी रूप से अनुभव करना और आकर्षण के कारण जो अध्यात्मिक अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं, उनको रूप देना बहुत कम लोग जानते हैं। ऐसी शक्ति तो केवल प्रभु की कृपा का फल ही है। जैसे हिमालय पर्वत के शिखर पर जब सूर्य की किरणें पडती हैं तो सुन्दर दृष्टि को बाहर की आँखों से तो सब देख सकते हैं और आनन्दित भी हो सकते हैं, लेकिन उन आनन्द को नृत्य या गीत या चित्र या साहित्य के रूप में प्रकाश करने की शक्ति कितनो मे है? और अगर यह भी कहा जाय कि ऊपर आँख करके उस सुवर्णमयी चोटी को देखते ही कितने लोग हैं, तो इसमे कुछ भी अत्युक्ति नहीं होगी; क्योंकि सच तो यह है कि स्वार्थ के दबाव से हमारी आँखें हमेशा जमीन की तरफ ही लगी रहती हैं और हम भूल जाते हैं कि आकाश मे तारे चमकते हैं और बाग में फूल खिलते हैं और समाधि में प्रभु का परस मिलता है—अर्थात् कमल की तरह कीचड़ से ऊपर उठ कर सूरज की दिशा मे मुँह करना हम नही जानते।

लेकिन यह कमल कैसा?

यह कमल वह है जो युग युगान्तर से आत्मा के उद्यान मे खिलता आ रहा है। उसका खिलाने वाला प्रभु है। धन्य है वह शक्ति जिसे इस कमल की खबर मिली है या जिसने उसकी सुगन्ध को आघ्राण किया है या उसकी शुभ्र ज्योति को देखा है।

हमारे मध्ययुग के साधु-सन्तो ने इस कमल को न केवल देखा था,

बल्कि उसकी खबर सबको पहुँचाने की कोशिश भी थी। उनका अपना अध्यात्मिक जीवन तो सर्वदा सुगन्धित था ही, उन्होने भारत के प्राणों को भी सुगन्धित कर दिया, और उनकी साधना की सुगन्ध अब तक हमारे गाँवो मे पायी जाती है। मेरा तो अपना यह विश्वास है कि अगर गाँवो के लोगो मे प्रभु के प्रति प्रेम अब तक पाया जाता है तो वह उन साधु सन्तो की साधना का ही फल है। उन्होने तो दैविक-कमल या सद्विचारो और सद्-व्यवहार के बीज जगह-जगह बो दिये और जिस जिसने उस बीज को खाद दिया उसका बीज अकुरित हुआ और उसने उस कमल की सुगन्ध और सौदर्य दोनो की खबर पा ली।

इसलिये सस्कृति को आत्म-कमल का खिलाना ही कह सकते हैं। किसी मनुष्य की मानसिक शक्ति या हाथ का कौशल कितना ही ऊँचे दर्जे का क्यो न हो, उसको संस्कृति का सच्चा पुजारी नहीं कहा जा सकता; क्योकि सस्कृति का सच्चा पुजारी वही हो सकता है जो अद्वैतम् का आदर्श सामने रखता है और अपनी हर एक कृति मे या अपने हर एक कर्म मे उसका प्रमाण देता है। यह इसलिये कहना पडता है क्योकि देखा गया है कि मानसिक शक्ति वाले द्वैत भाव को ज्यादा बढाते हैं और बजाय जो एक है उसकी याद दिलाने के (वह एक सत्य हो या भगवान् हो) अपनी ही तरफ़ ज्यादा ध्यान खीचते हैं और ऐसे 'मै' और 'तू', 'मेरी' और 'तेरी' का मन्त्र और भी ऊँचे स्वर से रटते हैं और औरो को भी रटना सिखाते हैं।

संस्कृति का उपासक बेशक सत्य को देखे, सुन्दर को देखे, शिवं को देखे, लेकिन उन सब को अद्वैतम् की खिड़कियां समझकर ही देखे, नही तो वह सस्कृति का सच्चा और सीधा रास्ता भूल जायगा और उसकी कृतियाँ भूल-भुलैयाँ का एक खेल बन जायेंगी।

संस्कृति और साधना

सम्कृति और साधना उस अखण्ड सत्य के दो पहलुओं का नाम है, जिसे हम 'जीवन का सत्य' कह सकते है। और जीवन के सत्य की व्याख्या करने जायँ, तो हमे कहना पडेगा कि उसका अर्थ उस जीवन-प्रणाली से है, जो सत्य की गोद मे पलती-बढती है, उसी से अनुप्राणित होती है।

किन्तु फिर यह 'सत्य' क्या है? कहते है, आज से प्रायः बीस शताब्दियो पूर्व पाइलेट ने प्रभु यीशु से यही सवाल किया था, जिसे मानव आज भी सुलझाता आ रहा है। शताब्दियाँ ही क्यों, युग-युगान्तर से हम इसी एक प्रश्न का उत्तर सुनने की वाट जोह रहे हैं। इतिहास मे पाइलेट ही प्रथम प्रश्नकर्ता नही है, जिसने यह सवाल छेडा था। वस्तुतः असख्य जिज्ञासुओं ने यही प्रश्न सदा अपने गुरु अथवा आत्मा या अपने ही अन्तर मे निवास करनेवाले उच्चतर व्यक्तित्व से उसी विनीत भाव से पूछा है, जिस भाव से पाइलेट ने प्रभु यीशु से पूछा था।

इसका और भी एक पहलू है। अपने-अपने ढग से अपनी-अपनी योग्यता और विशेषता के अनुसार मानव-विकास के आदि-काल से लेकर आज तक हर व्यक्ति इसी सर्वोपरि प्रश्न का उत्तर पाने के लिए अन्धकार मे टटोलता फिरा है : 'सत्य क्या है?' मानव-चित्त जितना विविध और विचित्र है, उतने ही विविध और विचित्र इसके उत्तर भी होते आए हैं। इसीलिए सत्य किसी का एकाधिपत्य नही है। जैसा कविगुरु रवीन्द्रनाथ ने एक बार कहा था : 'सत्य महानतम गुरु से भी महान् है।'

किन्तु सत्य की इन विभिन्न परिभाषाओं और वर्णनाओं के भीतर प्रत्येक जिज्ञासु को न्यूनाधिक परिमाण मे इस बात का अवश्य अनुभव होता है कि सत्य उसकी मनगढन्त कल्पनाओं, गोरखधन्धों या धारणाओं से बड़ी चीज़ है। अतएव चाहे वह उसे कार्य-रूप मे परिणत न कर पाए

अभेद को प्रकाशित कर सके। इसी मे उनकी सार्थकता भी निहित है।

इन अभ्यासो का मर्म है मुक्ति मे, मन की जादूगीरी, ज्यादती अथवा स्वप्नावली से रिहाई मे। और जो इस पथ के पथिक हैं, वे ही जानते हैं कि यह रिहाई पीडाकी कितनी बडी कीमत पर मिलती है। अवश्य हाँ इस दर्द मे एक पवित्र, मीठी और मधुमयी मिठास भी है—वह मिठास, जो प्रेमी को प्रिय के वियोग की व्यथा मे भी अनुभव होती है। इस माधुर्य का आविर्भाव इसीलिए होता है कि व्यक्ति सारे विश्व का केन्द्र अपने मे न समझकर अपने से बाहर भी ताकता-झाँकता है, अपने सुख-दुःखको सर्व सुख-दुःख का एक अंग मानता है। और तब एक ऐसा समय भी आता है, जब वह अह के जाल से मुक्ति पाने की इच्छा और इस मुक्ति की प्राप्ति को अनिवार्य वेदना मे कोई अन्तर नही पाता ; जब एक-दूसरे का पर्याय बन जाता है। और यह वेदना इसलिए मधुर है; क्योंकि इसमे नवीन जन्म की प्रसव-वेदना छिपी हुई है। माँ के गर्भ में सुरक्षित शिशु इसी मुक्ति की आकाक्षा से अपनी उस निरापद सुरक्षा का त्याग करता है। कविगुरु रवीन्द्रनाथ ने इसीलिए कहा था—"मुक्ति का रहस्य उस पीडा मे है जो पुनीत है, जिसका स्वर सीमाहीन की झंकार से एक है, जिसमे आत्म-प्रवंचना का कौशल मिट चुका होता है और जो अपनी व्यर्थ कामनाओं के पिंजरे को सहर्ष धूल मे फेंक देता है।"

'मूकवाणी' के रचयिता कवि ने भी इसी स्वर मे गाया है :

"सावधान रहना कि कही धरती की धूलि
आकाश को आच्छादित न कर ले।
चरम मुक्ति की राह तुम्हारे ही अन्तर मे छिपी हुई है,
जिसका आदि और अन्त तुमसे बाहर है।"

(—'वॉयेसेज आव् दि साइलेंस')

शांति का एकमात्र मार्ग

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीताजलि' की एक कविता मे पूछा गया है, "ज्योति कहाँ है ?" और उसके उत्तर मे कवि स्वयं ही कहते हैं, "ज्योति तुझे आकाक्षाओ की बत्ती जलाने से नही मिलेगी। अगर तुझे ज्योति चाहिए तो तू अपने जीवन की बत्ती को प्रेम से जला।"

इसी तरह ही जो लोग प्रश्न पूछते हैं, "शाति कहाँ है ?" उन्हें जवाब दिया जा सकता है, "अगर तुम्हे शाति चाहिए तो अपने जीवन को प्रेम से उज्ज्वल करो।" प्रेम का गुण ही है सबको एक-दूसरे के साथ मिलाना। धर्म का भी यही गुण है। और जहाँ लोगो के दिल मिले हुए हैं, वहाँ शाति अवश्य होगी, कारण कि शाति अपने अह के शात करने से मिलती है और प्रेम भी तभी हमारे हृदय मे जाग्रत होता है जब हम अपनी खुदी को खाक मे मिला देते हैं।

आज अगर व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन में अशाति फैली हुई है तो उसके मूल मे खुदी का खमीर है, जो उसे दिन-प्रतिदिन और अधिक फुलाता है। तात्पर्य यह कि हमारी आकाक्षाओं का कभी अत नहीं होता। वे एक गुब्बारे की तरह फूलती ही जाती हैं।

आजकल आर्थिक जगत् मे पुकार है कि हर चीज को आग लगी हुई है, अर्थात् उसकी कीमत बढती ही जा रही है। इसी तरह नैतिक जगत् में पुकार है कि इन्सान का अहंकार बढता ही जा रहा है। ऐसे ही राजनैतिक जगत् में पुकार है कि प्रत्येक देश की हकूमत अपनी शक्ति बढाने मे ही दिनरात लगी हुई है। इन सबका एक ही कारण है—और वह है खुदी का बेहद बढ जाना (Ego-inflation)।

और जहाँ खुदी ने किसी के दिल मे एक बार घर कर लिया तो फिर खुदा, जो शातिमय और प्रेममय है, घर से बाहर निकल जाता है।

इसीलिए, कई बरस हुए, कविवर रवीन्द्रनाथ ने पश्चिम की सभ्यता का उल्लेख करते हुए कहा था, "जबतक पश्चिम प्रभु के पास नही आयेगा, वह शाति को कभी प्राप्त नही करेगा।" और यह बात पूर्व की मौजूदा सभ्यता पर भी लागू होती है।

तो फिर प्रभु के पास कैसे जाया जाय? प्रेम का 'पासपोर्ट' लेकर; क्योंकि वही एक 'पासपोर्ट' है जो उस राजाओ के राजा के दरबार का दरवाजा खोल देता है और प्रेम का 'पासपोर्ट' तभी मिल सकता है जबकि उसमे अपना नाम लिखवाते समय यह भी लिखवा दिया जाय—"ख्वाहिश खतम शुद!"

शाति को पाने का यही एक रास्ता है।

अलविदा, शान्तिनिकेतन !

आज से लगभग २७ वर्ष पूर्व, अपनी अनेक प्रार्थनाओ के पुण्य-प्रताप से, मैने पहली बार शान्तिनिकेतन के उपवन मे कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दर्शन किये। उनके ससर्श मे आते ही मेरे अन्तर की सुप्त आध्यात्मिक पिपासा जाग उठी। मैने पल-भर मे ही अपने जाति-धर्मगत सस्कारो को अपने चित्त के ऊपर से खिसक कर दूर जाते हुए अनुभव किया। मै नम्रतापूर्वक अपने को इस दृष्टि से 'द्विज' ही कहना चाहता हू। कविगुरु के ही शब्दो मे, जिस तरह पक्षी अण्डे के कठिन आवरण को भेदकर आकाश के आलोक और अवकाश मे प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही मैने भी अपना नवजन्म-जैसा लाभ किया। कविगुरु मेरे आध्यात्मिक गुरु बन गये। तब से मै उनकी प्रीति के प्रकाश मे और प्रकाश की प्रीति मे पला-बढा हूँ तथा 'उसकी' झाँकी पाने के लिए व्याकुल रहा हूँ, जो इस सबसे परे होकर भी इस सबके साथ एकात्म है। कवि के प्रति मेरी कृतज्ञता इसीलिए गहरी है। वस्तुतः इस ऋण का कभी शोध नहीं हो सकता।

सन् १६१६ के शान्तिनिकेतन मे पुराकाल के तपोवनो की शोभा और सौरभ का सचार बना हुआ था। पारस्परिक मिलन का जो विश्वव्यापी छन्द है, उस छन्द की एक अनुभूति—एक झकार—शान्तिनिकेतन मे तब भी सुलभ थी। प्रकृति और पुरुष दोनो ही अनुक्षण उस सौन्दर्य-स्रष्टा का बोध करा देते थे, जिसके जादू से कवि पागल हो उठे थे।

तब से आज तक कितने हेर-फेर हो गये हैं। शिल्पी के नीड़-जैसा स्वल्पायतन शान्तिनिकेतन आज एक विश्वविद्यालय बन बैठा है। सरलता की मूर्ति देहात ने नगर की गरिमा ग्रहण कर ली है। जाति-तात्त्विक दृष्टि से आज का शान्तिनिकेतन एक छोटा सा भारतवर्ष जैसा है।

सांस्कृतिक पहलू से वह छोटे-मोटे एशिया की तरह है। उसकी आकांक्षा पूर्व-पश्चिम की मर्म-वाहिनियों का संगमस्थल बन जाने की है, और आर्थिक दृष्टि से आज के आश्रम का 'रोजगार चल निकला है।' धीरे-धीरे—लेकिन सुस्पष्ट रूप में—शान्तिनिकेतन एक खासी संगठित संस्था का रूप ग्रहण किये जा रहा है, जहाँ मधुचक्र की तरह काम-काज का अवकाशहीन गुंजरण फैलता जा रहा है। आज यहाँ के कार्यकर्त्ताओं के पास ऐसा समय नहीं कि वे किसी नवजात कुसुम को देख ठिठककर खड़े रह जाएँ या मेघों की सजीली बारात की रंगीनी को निहारा करें अथवा तितली की तरह आकाश के आलोक से अपने मन-प्राण के हर तार को झंकृत कर सकें। पुराने दिनों का वह वातावरण, जो अन्तरतम की गम्भीरतम और उच्चतम अभीप्सा को अपने सुकुमार करों से छूकर जगा देता था, आज या तो मिटता जा रहा है या रोजमर्रा के यान्त्रिक काम-काज के अन्धे वेग से घबराकर चुपचाप दूर सरकता जा रहा है। अतएव जहाँ मनुष्य को प्रकृति ने अपनी शान्ति और पुण्य की छाया-तले परम मंगल की साधना के लिए बुलाया था, वहाँ आज यह पुकार पुराने जमाने की कोई अनुश्रुति बन कर ही रह गयी है या बनने जा रही है। रह-रहकर कवि वर्ड्सवर्थ की व्यथा-भरी यही उक्ति याद आती है: The world is too much with us'

शायद कहा जा सकता है कि आधुनिक काल के तकाजे को पूरा करने वाले तपोवन के लिए इस युग में अब जगह नहीं रही। किन्तु इस बात को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कवि ने आजीवन इसी आशा और आश्वास को अपने जी में सँजोया था कि ऐसा तपोवन आज भी सम्भव है। सम्भव है कि उनके वर्त्तमान अनुगामी लोग अथवा प्रतिनिधिगण अपने भीतर उस प्रकार के विश्वास और श्रद्धा का अनुभव ही न कर पा रहे हों, जिसका स्पर्श पाकर ही सपने साकार होते हैं, सुदूर की आशा अदूर का सत्य बन पाती है।

सच तो यह है कि पारस्परिक सम्मिलन के निगूढ़ गतिवान छन्द में

वर्द्धमान संस्था का संचालन करना बखूबी सम्भव है। कवि को इसमे ज्वलन्त विश्वास था। किन्तु हाय, उसके स्थान पर आज हम हर विभाग में एक प्रकार का सूक्ष्म अकेलापन अनुभव कर पाते हैं। यह तो अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर चलने वाली उस संकीर्ण जातीयता का ही संक्षिप्त रूप है, जिसके खिलाफ़ कविगुरु आजीवन प्रबल युद्ध करते रहे। अतएव हमे भय है कि कहीं अन्य स्थानों की तरह शान्तिनिकेतन मे भी मशीन मनुष्य से बड़ी न बन बैठे, साधन स्वयं साध्य न बन जाएं, उपलक्ष्य लक्ष्य की जगह दख़ल न कर ले।

विश्वभारती के विभिन्न विभागों का कर्मस्थान प्रायः एक ही जगह है; किन्तु आज यही भौगोलिक सान्निध्य भीतर ही भीतर शायद एक प्रकार की सूक्ष्म सतर्कता को बढा रहा है। ऐसे मे शंकित साही की तरह अपनी सत्ता का हर कॉटा खड़ा रखने का सशंक सजग भाव बढ़ने का भय रहता है। सीमाहीन की याद भूलने लगती है। आज वातावरण के भीतर उस गोपन जादू का बोध नहीं होता, जो पुराने दिनों मे अनन्त की व्यंजना किया करता था, जिसके विस्तार मे अनेकता अपनी अन्तर्निहित एकता को ही व्यक्त किया करती थी, अपनी-अपनी विशेष सेवा अथवा दान की सरिता को एक ही प्रशान्त सागर मे प्रवेश कराने का सुख पाती थी—जब व्यक्ति की चेष्टा परम की इकाई की ओर अभिमुख होना चाहती थी।

आज शान्तिनिकेतन चौराहे पर आ खड़ा हुआ है। उसे अपने पथ का चुनाव कर लेना है और जल्दी ही करना है। जब देवता किसी का तप भंग करना चाहते हैं, तो बचाव के लिए उसे अधिक अवसर नहीं देते। बाधाओं और बाधकों की वाहिनी एक ही साथ आक्रमण करती है। इसीलिए हमे अपना पथ निर्वाचन जल्दी ही कर लेना होगा। क्या हम भौतिक विस्तार, विकास या बौद्धिक प्रगति के मृगजल के पीछे ही दौड़ेंगे या, जैसा कि विश्वभारती के प्रतिष्ठाता आचार्य ने चाहा था, आश्रम को प्रधान रूप से—केन्द्रीय रूप से—आत्मा के जागरण का, उद्बोधन का, तीर्थस्थल मानेंगे? क्या हम शान्तिनिकेतन के मूल संस्थापक, कवि के

पितृदेव, महर्षि देवेन्दनाथ ठाकुर का स्मरण करेंगे, जिनका जीवन उन्नीसवी शताब्दी के वैभव-विलास और पदार्थ बहुल सभ्यता का जीवन्त प्रत्याख्यान था, स्थूल पर आत्मा की विजय का साक्षात् द्योतक था ? यदि हमने समय रहते रास्ता न चुना, तो शान्तिनिकेतन का मौलिक स्वरूप—'गृह और मन्दिर का समन्वित रूप'—देखते-देखते मिटने लगेगा : गृह और उसकी आतिथेयता का स्थान यजमान की श्रद्धा के अभाव मे सराय का चौकीदार ग्रहण कर लेगा या बोर्डिंग-हाउस के वार्डेन दखल कर बैठेंगे और मन्दिर की जो हालत होगी, उसे कवि ने ही स्वय बडे चुटीले ढग से व्यक्त किया था :

"रथयात्रा की भीड मे धूमधाम सब ओर।
पथ पर झुक-झुक भक्तजन करते प्रणति अथोर ॥
पथ-रथ-मूर्त्ति सभी यही सोचे : 'मैं हूँ देव'।
अन्तर्यामी देवता हंसते लखकर भेव ॥" ('कणिका' से)

श्रीनिकेतन के सेवायतन मे भी किसान और मजदूर की आत्मा के साथ चिर-ग्रथित हल और चरखे का घरेलूपन मिटता जाएगा। लाभ और लोभ के बीच का व्यवधान बड़ा सूक्ष्म होता है।

विश्वभारती के जल का स्रोत सब प्रकार से एक विशाल प्रतीक के समान है—यथार्थ मे भी और लाक्षणिक भाषा मे भी। वह स्रोत चिर-प्रवहमान है। किन्तु ऐसा न हो कि जब भी तृषित व्यक्ति अपनी प्यास बुझाने आये तभी पानी के नल को बिगडा हुआ पाये।

शान्तिनिकेतन मे सप्तपर्णी का वह वृक्ष आज भी वर्त्तमान है, जिसकी छाया मे बैठ कर महर्षिदेव ने अनन्त आत्मा का प्रथम सस्पर्श पाया था। वहीं शान्तिनिकेतन का मर्म है। वहाँ से उठ कर यदि हमारी साधना का केन्द्र दफ्तर की चहारदीवारी मे बन्द हो गया, यदि लाल फीते से बँधे बही-खाते के पृष्ठो मे ही उलझ कर रह गया, तो सुदूरव्यापी सीमाहीन आकाक्षा का दम ही घुट जाएगा, 'सुदूर की पिपासा' अतृप्त ही रह जाएगी। बाहर की दृष्टि आज चूना-सुरखी और ईंट के आवासो मे अटककर रह

जाती है, क्षितिज पर मौन खड़े हुए तालवृक्षों तक पहुँचने मे बाधा पाती है। ऐसा न हो कि अन्तर्दृष्टि भी अपने दिगन्त तक प्रसारित न हो पाये, इस कोलहल को बीच से चीरते हुए अपने मौन लक्ष्य तक पहुँचने मे रुकावट का अनुभव करे। ऐसा होना तो नही चाहिए, क्योकि शान्ति-निकेतन की नीव बहुविध अध्यात्म-साधनाओ के सुदृढ आधार पर डाली गयी थी, साधको ने अपना श्रेष्ठतम दान यहाँ की हवा मे भर दिया था। किन्तु आँधी-पानी के समय सावधानी बरतनी होती है, और आँधी के जोर को देखते हुए आशका अस्वाभाविक नही मालूम होती।